श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला—ग्रन्थांक २३.

ताप और तप

प्रवचनकार

परमश्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म. सा.

संपादक

श्री शांतिचन्द्र मेहता

एम. ए., एल-एल. बी., एडवोकेट

प्रकाशक

श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला

(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर (राजस्थान)

प्रकाशक :

मंत्री-श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति
अगस्त, १९७३

प्रति—११००

मूल्य : दो रुपये, पचास पैसे

मुद्रक :
जैन आर्ट प्रेस
(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)
रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर

प्रकाशकीय

श्रद्धेय श्रीमज्जैनाचार्य श्री नानालाल जी म. सा. श्रमण-परम्परा के उन्नायक प्रतिनिधि हैं । वीतरागवाणी के प्रमुख वक्ता हैं । आपका व्यक्तित्व सत्यान्वेषक है और आचार आदर्श–जीवन के सत्य को प्रकाशित करता है ।

आचार्य श्री जी शास्त्रविहित निवृत्ति धर्म के आचार नियमों का यथाविधि पालन करने के साथ–साथ जनजीवन का निर्माण करने एवं ज्ञान, दर्शन और चारित्र के मर्म को शास्त्ररीति तथा विज्ञाननीति द्वारा युक्ति–प्रयुक्ति पूर्वक सम-झाने के पवित्र कार्य में सदैव संलग्न रहते हैं । इसलिये आपश्री के प्रवचन और वचन आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं सर्वजनसुखाय, सर्वजनहिताय के लक्ष्य से परिपूरित होते हैं ।

आज का मानव भौतिक–विज्ञान से भ्रान्त है और अपने आप में उलझ रहा है । वह आरोपित विचारधारा के माध्यम से अपनी समस्याओं के समाधान के लिये प्रयत्न-शील है । लेकिन इस समाधान से नई–नई समस्यायें उत्पन्न होते रहने एवं उपलब्धियां भी क्षणिक होने के कारण वह अतृप्ति का अनुभव करता है और श्रेय प्राप्ति के लिये सही मार्ग में अपने आपको लगा देना चाहता है । इस अन्वेषण का आधार आध्यात्मिक अनुभूतियां एवं विचार ही हो

सकते हैं और व्यक्ति सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और आचारण के समन्वय द्वारा श्रेय प्राप्त कर सकता है।

अतः अध्यात्म-विज्ञानी अमंगल की प्रत्येक प्रवृत्ति को समेट कर अमृत का दान करते हैं और सचेतन प्राणधारियों की कुप्रवृत्तियों का उन्मूलन करने के लिये सर्दैव तत्पर रहते हैं। वे अपनी आचारमूलक प्रवृत्तियों के द्वारा अध्यात्म में रमण करते हुए दूसरों को भी लाभान्वित करने के लिये उपदेशात्मक शैली का अनुसरण करते हैं। उनके मानस-सरोवर से प्रसूत शांति-सुधारस-पूरित प्रवचन मानव को लोक-मंगल के लिये प्रेरित करते हैं।

पूज्य आचार्य श्री जी म. सा. अध्यात्मविज्ञानी हैं। यह तथ्य प्रस्तुत पुस्तक "**ताप और तप**" में संग्रहीत प्रवचनों के अध्ययन से भलीभांति स्पष्ट हो जाता है। आचार्य श्री जी ने इन प्रवचनों में स्पष्ट और सरल शैली में अपनी साधना द्वारा प्राप्त सत्यानुभवों को अभिव्यक्त किया है। इन प्रवचनों में आचार्य श्री जी कहीं युगीन समस्याओं का विश्लेषण करते हैं तो कहीं कषायों को उपशांत करने की प्रेरणा देते हैं, कहीं जीवन की पवित्रता का बोध कराते हुए तदनुकूल जीवन-व्यवहार करने की शिक्षा देते हैं। संक्षेप में कहें तो इन प्रवचनों में गहन चिंतन एवं वैचारिक गुत्थियों के समाधान का अपूर्व सामंजस्य है।

आचार्य श्री जी के प्रवचन साधुभाषा और शास्त्राज्ञा की सीमा में आबद्ध है और उनका एकमात्र उद्देश्य नैतिक और आध्यात्मिक विकास तथा जन-जागरण है।

संपादन करते समय इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखा गया है, फिर भी संपादन में कहीं कोई त्रुटि रह गई है तो उसके लिये संपादक उत्तरदायी हैं । त्रुटि की जानकारी मिलने पर आगामी संस्करण में यथायोग्य संशोधन कर लिया जायेगा । आशा है सहृदय सज्जन परामर्श देकर मार्गदर्शन कराते रहेंगे ।

अन्य प्रवचनों को भी संपादित रूप में यथाशीघ्र प्रकाशित करने की योजना है ।

प्रस्तुत पुस्तक में श्रद्धेय आचार्य श्री जी म. सा. के मंदसौर चातुर्मास के प्रवचन संकलित किये गये हैं । इसके लिये मंदसौर श्रीसंघ के अध्यक्ष श्री कन्हैयालाल जी मेहता, मंत्री श्री सौभाग्यमल जी पामेचा आदि पदाधिकारियों और सदस्यों तथा चातुर्मास-प्रवचन प्रकाशन योजना के संयोजक श्री भूरचंद जी देशलहरा व उनके सहयोगी बंधुओं का सधन्यवाद आभार मानते हैं ।

पुस्तक पाठकों को रुचिकर प्रतीत हुई तो सम्पादक व प्रकाशक अपने प्रयास को सार्थक समझेंगे ।

संघसेवक

जुगराज सेठिया, मंत्री

भंवरलाल कोठारी, सहमंत्री, चंपालाल डागा, सहमंत्री
कालूराम छाजेड़, सहमंत्री, पृथ्वीराज पारख, सहमंत्री
श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ.

सम्पादकीय

लोकहित में अपने जीवन को समर्पित कर देने वाले सन्तजन अपने ज्ञान एवं कर्म की कठोर साधना से प्राप्त अनुभवों के आधार पर जो विचार प्रकट करते हैं, वे विकासोन्मुख जीवन के लिये उद्‌बोधक–सूत्र होते हैं। ऐसी सन्तवाणी को जो अपने हृदय में रमा लेता है, वह अपने जीवन की ऊंचाइयों पर तो चढ़ता ही है, अपितु समाज की उन्नति के लिये स्वस्थ धरातल का निर्माण भी कर देता है। जैनाचार्य श्री नानालाल जी म. सा. की ऐसी प्रवर संत–वाणी का ही यह एक छोटा-सा संकलन प्रस्तुत है।

"ताप और तप" में आचार्यश्री के ग्यारह व्याख्यान संकलित हैं, जिनके सम्पादन का सौभाग्य मुझे मिला। यह संकलन आत्म–धर्म से लेकर राष्ट्र–धर्म की महत्ता को स्पष्ट करता है तो मन को एकाग्र करने, असंभव को संभव बनाने, इन्सान की सेवा करने, परम्परा की अंधता मिटाने, निर्भय बनने आदि का मार्ग भी दिखाता है। अपनी सहज स्वाभाविकता में जो संतवाणी प्रस्फुटित होती है, वही पाठक के अन्तर्मन में पैठती है। आचार्यश्री की वाणी का यह गुण अतीव ही प्रभावोत्पादक है।

प्रस्तुत संकलन के सम्पादन में मैंने प्रयास किया है कि आचार्यश्री की मौलिकता बनाए रखूं, फिर भी जहां-

जहां विसंगति एवं त्रुटि पाठकों को लगे—उसका दोष मेरा मानकर वे मुझे क्षमा करें।

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर द्वारा इस संकलन का प्रकाशन तथा मेरे द्वारा इसका सम्पादन, मैं तभी सफल मानूंगा जब आचार्यश्री के उद्धारक वाणी-प्रवाह में भव्य आत्माएं अवगाहन करके अपने जीवन को पवित्र बना सकें। आत्म-तेज से प्रभावित सन्तवाणी का समागम सौभाग्य से ही प्राप्त होता है, अतः इससे लाभान्वित होकर अपने जीवन को भी लोकहित में नियोजित करना प्रत्येक प्रगतिशील मानव का पुनीत कर्तव्य माना जाना चाहिये। "**ताप और तप**" का अध्ययन-मनन पाठक सदाशय पूर्वक करें, इसी भावना के साथ—

भवदीय

शान्तिचन्द्र मेहता,
एम. ए. एल-एल. बी., एडवोकेट,
स. सम्पादक "ललकार" साप्ताहिक

ए-४, महता सदन,
कुंभानगर
चित्तोड़गढ़ (राज.)
दि. २२-८-१९७३

अनुक्रमणिका

ताप और तप

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहूँ रे कन्त ।
रीझ्यों साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनन्त ।
कोई पतिरंजन अति घणो तप करे रे, पतिरंजन तन-ताप ।
ए पतिरंजन में नवि चित्त धर्युं रे, रंजन धातु मेलाप ।ऋष.।

ये ऋषभ भगवान् के चरणों में प्रार्थना की पंक्तियां हैं । पक्तियों का उच्चारण तो जिह्वा का व्यापार है, क्योंकि कविता कवि की रचना होती है और वह शब्द-रूप में आवद्ध होकर जन-मानस के कर्ण कुहरों में प्रवेश करती है । किन्तु कविता में कवि के अन्तर् का भाव समाहित होता है और वही अन्तर् का मृदुल-भाव वचन के माध्यम से प्रकट होकर दूसरों के दिलों को छू लेता है । एक का हृदय दूसरे के हृदय से सीधा संस्पर्श वाणी के माध्यम से ही करता है—वाणी ही हृदयों के बीच रहे हुए फर्क को जाहिर करके उनमें सहृदयता एवं प्रेरणा के सूत्र पिरोती है ।

शब्दों के रूप-रूप में कितना अन्तर होता है ? कविता कर्म और धर्म में किस तरह प्राण फूंक देती है ? यह संकेत उक्त पक्तियों से मिल रहा है । सच्चा साधक वही होता है जो कविता के शब्दों के सहारे भावों की गहराइयों में उतरता है तथा आत्मा की आवाज़ को

पकड़ लेता है। यदि साधक बाह्य शाब्दिक आवरण में ही उलझ जाता है तो उसकी दृष्टि उन गहराइयों तक पहुंच नहीं पाती जो साधना का प्राण होती है।

अन्तर् में रहे हुए भावों को प्रकट करने के लिये किसी भी भाषा का प्रयोग किया जाय, वह उन भावों की वाहिका ही होगी। जिस कवि के अन्दर जिस भाषा का अवस्थान है, वह उसी भाषा में अपने भावों को व्यक्त करेगा और भगवान् की जागरूक एवं कर्मठ भक्ति में अपने आपको नियोजित करेगा। भाषा चाहे प्राकृत हो, संस्कृत, फ़ारसी या अंग्रेजी हो— यदि उसके माध्यम से ईश्वर के स्वरूप का अंकन किया जाता है तथा उस स्वच्छ ईश्वर-रूप दर्पण में साधक भी स्व-स्वरूप को प्रतिबिम्बित कर उस फर्क को आंकना चाहता है तो वह प्रत्येक भाषाभावों के उज्ज्वल स्वरूप को ही प्रकाशित करेगी।

ईश्वर का स्वरूप कैसा है और स्व-स्वरूप कैसा है? इन दोनों के बीच अन्तर कितना है और उस अन्तर को कैसे मिटाया जा सकता है— यह सब भाषाओं और उनके द्वारा प्रकाशित होने वाले भावों का चिन्तनीय विषय माना जा सकता है। ईश्वर का स्वरूप कैसा बतलाया है और उसके चरणों में जब साधक अपने हृदय के भाव-सुमन समर्पित करता है तो उसका क्या ढंग होना चाहिये—यह भी गहराई से समझने की वस्तुस्थिति है। इसी समझ पर ही आधारित है कि कवि के अन्तर् के भावों को किस दृष्टि एवं रुचि के साथ पकड़ने की चेष्टा की जाय?

ऋषभ जिनेश्वर की प्रार्थना— कविता की जिन पंक्तियों का उच्चारण किया गया है, उसमें एक रूपक है

और वह है ईश्वर को स्वामी – पति के रूप में ध्याने का। अन्तर्चेतना को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है– हे चेतन, यदि तू अपने स्वामी, कन्त या पति के रूप में किसी को वरना चाहता है तो उस ईश्वर को वर जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, जिसके अन्तर् से काम, क्रोध, भय, मत्सर, तृष्णा आदि विकार नष्ट हो चुके हैं और जो अनन्त शक्ति का धारक बन कर परम तेज को प्राप्त कर चुका है। यह चेतना को किया गया सम्बोधन है।

कभी कोई इस भ्रान्ति में पड़ जाय कि यह स्वामी और पति बनाने की कौनसी भक्ति है? किन्तु आप खयाल कीजिये कि यह अन्तर्चेतना स्वयं ही स्त्रीवाची शब्द है। अतः इसके स्वामी, पति की कल्पना मात्र की गई है : अन्तर्चेतना और बुद्धि स्वामी के अधीन रहकर ही अपने आपको विशुद्ध पथ की गामिनी बनाये रख सकती है। यदि इस बुद्धि का झुकाव नाशवान तत्त्वों की ओर हो तो उससे अन्ततोगत्वा धोखा ही मिलता है। इसलिये स्त्री-वाची बुद्धि का सम्बन्ध उसके स्वामी अविनाशी परमात्मा के साथ जोड़ा जाता है।

आत्मा का मूल गुण चेतना या बुद्धि है। यह गुण आत्मा से अलग नहीं हो सकता, क्योंकि इसके अलग हो जाने का अर्थ है कि आत्मा, आत्मा ही न रहे और ऐसा होता नहीं। आत्मा चेतनारूपी गुण से रहित नहीं बन सकती है। अब आत्मा के इस रूप की दृष्टि परमात्मा-स्वरूप की दृष्टि से जोड़ दी जाय तो यह आत्मा— जो अनादि काल से पर-पदार्थों के साथ रमण कर रही है, विनश्वरता से अनश्वरता की ओर गति करने लगेगी।

हमारी इस दृष्टि की विमुखता का मुख्य कारण आज का विज्ञान भी है जो केवल भौतिकता से सम्बन्धित है, इसकी प्रगति ने आज के युग को भौतिकता के रंग में अधिकांशतः ढालने का प्रयास किया है और इसी भौतिकता-प्रधान वातावरण से प्रभावित होकर आज का मानव अपनी मूल-शक्ति एवं अपने मूल-स्वरूप को भुला रहा है। वह वाह्य साधनों के ही सहारे से ऊँची उन्नति करना चाहता है, किन्तु अपने ही अन्तर् में झांकने और उसे नापने तौलने का अभ्यास उसका बहुत घट गया है। उसकी बुद्धि भौतिक-तत्त्वों को ही सबकुछ समझकर या तो ईश्वरत्व की ही उपेक्षा करने लगी है अथवा ईश्वर को भी वह अपने भौतिक चश्मे से ही देखने की चेष्टा करती है। किन्तु विचारणीय् यह है कि क्या ईश्वर के स्वरूप को समझे बिना मनुष्य सच्ची प्रगति कर सकता है और क्या ईश्वरत्व की प्राप्ति के बिना मनुष्य अपने विकास का चरम ढूँढ़ सकता है?

सच कहा जाय तो ईश्वरत्व को समझे और माने बिना मनुष्य का अपने चरम विकास को पा लेना शक्य नहीं है। पर के सहारे स्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। स्व को ढूंढ़ने वाला स्व ही होगा और जिस दिन स्व अपने स्व को ढूंढ़ कर पा लेगा वही उसका चरम विकास होगा। पर के सहारे तो स्व भी परतन्त्र होता है और परतन्त्रता की अवस्था में अंतिम विकास तो दूर साधारण विकास साधना भी संभव नहीं।

इसमें एक स्थिति अवश्य है कि कुछ सीमा तक पर के प्रयोग से स्व के विकास के मार्ग के कांटे हटाये जा सकते हैं किन्तु स्व का सम्पूर्ण विकास तो तभी होगा जब

पर के प्रभाव से पूरे तौर पर छुटकारा पा लिया जाय। एक उदाहरण ले लें, आपको कलकत्ता जाना है तो आप किसी वाहन का आधार लेकर ही वहां शीघ्र पहुंच सकते हैं किन्तु कलकत्ते में अपने स्थान— भवन आदि में प्रवेश करने के लिये उस वाहन को छोड़ना ही पड़ेगा। वैसे ही यह अन्तर्चेतना जब किसी पर–पदार्थ के सहारे से सही दिशा में भी यदि प्रगति करती है तब भी एक स्तर पर जाकर इसे उस पर–पदार्थ के सहारे को छोड़ना ही पड़ेगा। पर–पदार्थ स्व के लिये अन्तरिम काल में ही सहारा हो सकता है, वह उसके चरम तक साथ नहीं चल सकता। इस कारण स्व को समझना और उसे पर–पदार्थ से आश्रित होने से पृथक् करना जागृति का मूल मंत्र है।

कवि ने ऋषभदेव की प्रार्थना में इसी चेतनाबाई को जगाने और ईश्वर का निर्लेप आश्रय पाने की उदबोधना की है और कहा है—

कोई पतिरंजन अति घणो तप करे रे, पतिरंजन तन ताप।

कोई अपने पति— स्वामी को प्रसन्न करने के लिये बहुत तपस्या करे और इतनी तपस्या करे कि उसमें उसका शरीर सूख जाय, तब उसके पति उससे प्रसन्न होवें या नहीं? पर, यहां चेतनाबाई के पति कौन हैं? वे तो स्वयं ईश्वर हैं, तब क्या चेतना भी तप करे तो वे प्रसन्न होवें या नहीं? अब ईश्वर को अगर प्रसन्न करना है तो उस ईश्वर को प्रसन्न करना पड़ेगा, जो अप्रसन्न हैं। शुद्ध अव-स्थान पर पहुंचा हुआ ईश्वर तो कभी अप्रसन्न होता या रहता ही नहीं, वहां तो प्रसन्नता ही प्रसन्नता है, चाहे आप उसे प्रसन्न करने का प्रयास करें या नहीं— आप उसकी

स्तुति करें या निन्दा—उसकी प्रसन्नता पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। वह ईश्वर तो अनन्त आनन्द का सागर होता है, जिसमें अप्रसन्नता की एक भी लहर नहीं चलती।

इस दृष्टि से आपको सोचना है कि तप किसके लिये करना है ? यह बात आपके लिये कुछ अटपटी-सी होगी। किन्तु आप इस पर गहराई से चिन्तन करें। शुद्ध ईश्वर को प्रसन्न करने की आवश्यकता नहीं है, इसलिये प्रसन्न करना है तो अशुद्ध ईश्वर को कीजिये और उसे ही प्रसन्न करने के लिये तप की आवश्यकता है। आप कह सकते हैं कि ईश्वर भी क्या शुद्ध और अशुद्ध होता है और यदि अशुद्ध ही है तो वह ईश्वर कैसे हुआ ?

जैन–दर्शन की निश्चित मान्यता है कि प्रत्येक आत्मा का मूल–स्वरूप ईश्वरत्व का है प्रत्येक अन्तर्चेतना में ईश्वरत्व तक पहुंचने की क्षमता का सद्भाव है। इसलिये सभी ईश्वर हैं। शुद्ध ईश्वर वह जिसने अपने कर्म-विकार रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है और जो अनन्त शक्ति एवं अनन्त आनन्द का अमर–पुंज वन चुका है। भौतिकता या विज्ञान की वहां तक पहुंच नहीं है। वह स्थिति आत्म-विकास एवं आध्यात्मिकता से ही प्राप्त की जा सकती है।

किन्तु अशुद्ध ईश्वर यह मनुष्य और प्राणी समाज है जो पर–पदार्थों के विकार में लिपटा हुआ अपने अन्दर रहे हुए ईश्वरत्व को प्रकट नहीं कर सका है। ईश्वर तो वह है ही क्योंकि मूल स्वरूप उसका ईश्वर का है किन्तु वह विकारों से अशुद्ध वना हुआ है इसलिये मैं उसे अशुद्ध ईश्वर की संज्ञा दे रहा हूं। यह पिंडधारी अशुद्ध ईश्वर संसार के

भौतिक पदार्थों को ही सुख का मूल मानकर इन्हीं के पीछे लालसा की दौड़ लगा रहा है—यही इसकी अशुद्धता है तथा इस अशुद्ध ईश्वर को जो न्यूनाधिक रूप में आप व हम सब हैं, प्रसन्न करना है तो इसकी अशुद्धता को मिटा-कर इसे पवित्र बनाना पड़ेगा। यह अशुद्ध ईश्वर जब प्रसन्न हो जायगा, सच्चे आनन्द की अनुभूति जगा लेगा तब अपने पराक्रम से, अपनी साधना से और ज्ञान-दर्शन व चारित्र-मय अपनी अन्तर्चेतना से वह अपने शुद्ध ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेगा और तब वह भी ऋषभ भगवान् की तरह शुद्ध ईश्वर बन जायगा।

जब किसी स्त्री का पति उससे अप्रसन्न होता है तो आप जानते हैं कि उस स्त्री के मन का हाल क्या होता है? उसका मन ताप-तप्त होता है क्योंकि वह अपने पति की अप्रसन्नता में अपने जीवन को निरर्थक मानती है तथा निर-र्थक-जीवन भारपूर्ण ही महसूस होता है। यह ताप उसके लिये बड़ा कठिन होता है और प्रत्येक क्षण वह अभिलाषा करती है कि उसका ताप मिट जाय तथा उसे उसके पति का आश्रय मिल जाय। यह मनोदशा तो हुई एक पतिव्रता पत्नी की, जिसमें अपने स्वामी के प्रति अटूट निष्ठा है किन्तु स्वामी उससे अप्रसन्न हैं। उसके सामने स्वामी को रिझाने का कर्त्तव्य स्पष्ट होता है कि वह प्रयत्नरत बने।

स्त्री की एक दूसरी भी अवस्था होती है और वह यह कि वह कभी-कभी अपना पतिव्रत-धर्म भी भूल जाती है तथा राह चलते किसी भी पुरुष से अपना सम्बन्ध जोड़ लेने को बेभान अवस्था के वशीभूत हो जाती है। प्रथम क्षण में उसे इसके ताप का बोध भले ही न हो किन्तु जब उसे इसका

हल्का-सा भी बोध होने लगता है तो उस समय उसके मनस्ताप का कोई ठिकाना नहीं होता। उस उत्ताप से वह जलने लगती है और उस समय यदि उसे सन्मति देने वाला मिल जाय तो वह किसी भी उपाय से उस ताप से छूटना चाहती है।

अब अपनी इस चेतना बाई को भी देखिये कि उसकी अवस्था किस स्त्री जैसी है? क्या वह पतिव्रता है या दुश्चरित्रा? क्या उसे अपने मूल–स्वरूप का तनिक भी भान है या पर–पदार्थों के सुखाभास में डूब कर अपने मूलस्वरूप के आधारगत गुण को भी उसने भुला रखा है? कैसी ताप-तप्त अवस्था है इस चेतना की? संसार विविध तापों की उष्ण–भूमि है। यहां विकारों की आग आत्म–स्वरूप को जलाने के लिये धू-धू करके जलती रहती है। जिन आत्माओं को आत्मस्वरूप का भान हो जाता है वे इससे बचने का प्रयास करती हैं अथवा यों कहें कि वे अपने स्वरूप को सोना बनाकर इस आग से कुन्दन बन जाती हैं।

किन्तु जो आत्माएं पथभ्रष्टा स्त्री की तरह अपने मूल ईश्वरत्व से बेभान बनीं संसार की भौतिकता की भ्रांति में पड़ी रहती हैं उनका हाल लकड़े जैसा हो जाता है जो आग में जलता है, काला होता है और कोयला बन कर सारे वातावरण को भी काला बनाता रहता है। उस लकड़े के ताप का क्या कहना? लेकिन अपनी सुप्तावस्था में अपनी दुर्दशा का भी उसे भान नहीं होता है। वे आत्माएं संसार के तापों में निरन्तर ताप-तप्त बनी रहती हैं एवं अनन्त दुःखों में पड़ी रहती हैं।

इस ताप के घातक रूप को समझने की आवश्यकता है। मनुष्य क्रोध करता है तो भूल जाता है कि उससे वह

दूसरों का ही अहित नहीं करता बल्कि अपना भी कितना अहित करता हैं? अभिमान से वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता है किन्तु प्रकट उसकी दुर्बलता ही होती है। माया, कपट और कुटिलता के प्रपंच रचकर वह समझता है कि वह दूसरों को फांस कर उनकी दुर्गति बना रहा है पर असल में भयंकर दुर्गति उसी की होती है। लोभ के वशीभूत होकर वह क्या–क्या अनर्थ करता है और अपने को ही अनर्थ में डुबो देता है। काम से सुख पाने की उसकी लालसा जब भड़कती है तो उसका अन्त भीषण दुःखों में बदल जाता है। वितृष्णा के पीछे–पीछे वह भागता है और अपने आपको मरुस्थल के भयंकर ताप में फंसाता रहता है। गंजे के नाखून की तरह वह जितना मोह को कुरेदता है है उतना ही उसका रक्त बहता रहना है और दाह पैदा करता रहना है। राग और द्वेष के भेद भरे भावों में उसे कभी आनन्द की अनुभूति नहीं होती।

यह सब क्या है? क्या ताप की ऐसी भीषण ज्वालाओं का संसार में पग-पग पर अनुभव नहीं होता? जिसे आप सुख मानकर आगे बढ़ते है और पकड़ना चाहते हैं, क्या वह पकड़ में आते ही ताप का रूप नहीं ले लेता? जिससे आप शीतलता पाना चाहते हैं, वही जब अग्नि बनकर आपको ताप-तप्त करता है तब भी क्या आपकी अन्तर्चेतना जागती नहीं? क्या वह इतनी पथ-भ्रष्टा हो गई है कि अपने पति को भी भूल गई है? क्या वह व्यभिचारिणी की तरह पतन के हर खड्डे में गिरती ही रहेगी और ताप भुगतती ही रहेगी?

ये सब प्रश्न है, जिन्हें अपनी आत्मा से पूछ कर

गहराई से सुलझाना हैं। अनन्त दुःखों में भटकाने वाले इन तापों को अनुभव करना है और इनसे निस्तार पाने का सार्थक उपाय करना है। पतिव्रता स्त्री की तरह आत्मा में यह भावना जगानी है कि वह पर-पुरुषों के समागम को छोड़कर अपने सच्चे स्वामी को रिझाने के लिये यत्नशील बने।

ताप से अगर मुक्ति पानी है तो उसका उपाय है तप। तप करोगे तो ताप से छुटकारा मिल जायगा। पर पदार्थों का मोह और विकारों की अग्नि अन्तर्चेतना को ताप से जलाती है क्योंकि उनमें फंसे रहने के कारण आत्मा की दशा लकड़े की-सी बनी रहती है, किन्तु तप उस दशा को बदलता है, उसमें फौलादी शक्ति भर कर उसे सोने की-सी उज्ज्वल बनाता है। तप में आत्मा जब तपती है तो उसका सोना तप कर अपना चरम रूप प्रकट करता है। ताप से आत्मा काली होती है तो तप से वह निखरती है।

यदि पिण्डगत चेतना को शुद्ध बनानी है, अपने स्वामी को प्रसन्न करना है तो तप करने का अनुष्ठान ही सर्वश्रेष्ठ माना जायगा। वह तप अन्तर् में चल रहे माया और विकारों के द्वन्द के ताप को नष्ट कर आत्मिक शांति उत्पन्न करेगा। जब अन्तर् के विकार नष्ट हो जायेंगे तो यह अशुद्ध ईश्वर भी शुद्ध रूप ग्रहण करेगा और वैसी अवस्था में फिर पर-पदार्थों का अवलम्बन लेकर आत्म-साधना करने की आवश्यकता शेष नहीं रहेगी।

किन्तु तपस्या का मार्ग कठिन होता है। आज का मानव तप करने की अभिलाषा कम रखता है। उसे तो सीधा लड्डू मिल जाय तो वह खुश होता है कि कौन सारी

सामग्री इकट्ठी करने और लड्डू बनाने का कष्ट करे ? वह तो सीधा कूदना चाहता है । किन्तु याद रखिये कि अपोलो आदि रॉकेटों की तरह उड़ानें भरने से ईश्वरत्व की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है । तप किये बिना अगर मुक्ति की इच्छा रखते हो तो त्रिशंकु जैसी दशा बन जावेगी ।

पुराण में एक रूपक आया है कि पृथ्वीतल पर एक राजा था । वह बहुत अन्यायी व अनीति से ओतप्रोत था । उसने मन में संकल्प किया कि दूसरे लोग तो तप करके स्वर्ग में जाते हैं किन्तु मैं बिना तप किये ही स्वर्ग में जाऊंगा । राजा ने अपने उपदेशक से पूछा– स्वर्ग में जाने का कोई उपाय है ? उपदेशक ने कहा— अवश्य है किन्तु वह यह है कि आप कठोर तप करें, तन को सुखावें तभी आपके सांसारिक ताप मिट कर स्वर्ग के द्वार खुल जायेंगे ।

राजा ने कहा— यह उपाय तो मैं भी जानता हूं । आप तो कोई रास्ता बताइये जिससे बिना कुछ किये ही मैं सीधा स्वर्ग में जा सकूं । उपदेशक ने ऐसे किसी रास्ते की जानकारी से अपनी अनभिज्ञता प्रकट की । राजा फिर वशिष्ठ ऋषि के पास भी गया और उसने उनसे रास्ता पूछा । ऋषि ने कहा कि मैं अपने तप–बल से तुमको सीधा स्वर्ग में भेज सकता हूं । बस राजा को और क्या चाहिये था ? वह उसी समय तैयार हो गया । ऋषि ने जब राजा को सशरीर ऊपर उड़ाया तो यह बात देवताओं को मालूम हुई कि जो राजा मृत्युलोक में अन्याय का दौरदौरा चला रहा है, वह अगर स्वर्ग में आ गया तो यहां भी यही करेगा । इसलिये उन्होंने ऊपर से राजा को नीचे दबाने की चेष्टा की । नीचे से ऋषि का बल और ऊपर से देवताओं का

प्रभाव — बेचारा त्रिशंकु राजा बीच में ही लटक गया। इसीलिये आज तक अधरभ्रम में चलने वाले को त्रिशंकु कहा जाता है। कथा का सार यह है कि अपने ही तप एवं अपनी ही साधना के बल पर मनुष्य अपना विकास कर सकता है। जहां वह 'पर' के वशीभूत हुआ, वहीं वह त्रिशंकु बन जाता है।

तप का दूसरा नाम है पुरुषार्थ। स्वावलम्बी होकर स्वयं की चेतना और निष्ठा से जो उग्र साधना की जाती है उसी से मनुष्य का सच्चा पुरुषार्थ या पराक्रम प्रकट होता है। कल्पना करें कि शत्रु सामने खड़े हैं और उस समय कोई परमुखापेक्षी बना हुआ हो तो क्या वह अपनी रक्षा कर सकेगा ? परमुखापेक्षी साहसहीन होता है, इसलिये उसमें पुरुषार्थ का भी अभाव होता है। लेकिन जो उन शत्रुओं पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति से टूट पड़ता है, वह विजय भी प्राप्त करता है। इसी तरह संसार के ये सारे ताप आत्मा के शत्रु हैं, इनसे संघर्ष करने के लिये जिसमें साहस और पुरुषार्थ का अभाव है वह जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहता है, किन्तु जो साहस करके पुरुषार्थ और पराक्रम के बल पर इन तापों से टक्कर ले लेता है याने कि तप करने में प्रवृत्त हो जाता है, वह अपने तन को सुखा कर अपनी वासनाओं को जला देता है तथा आत्मिक शीतलता प्राप्त कर लेता है।

तपस्या की प्रक्रिया से अशुद्धि का वह पर्दा जलने लगता है जो विकारों, वासनाओं और कर्मों के रूप में आत्मा के विवेक पर छाया हुआ है। यही पर्दा है जो अशुद्ध ईश्वर एवं शुद्ध ईश्वर के बीच व्यवधान के रूप में

पड़ा हुआ है । मौलिक दृष्टि से आत्मा, आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, चाहे ईश्वर की हो व संसारी प्राणियों की, अन्तर है केवल अनावरण, आवरण का । यदि विशुद्ध अनावारित बनना है तो आप अपने आप को सोने की तरह तप से तपाओ, अपने विकारों के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो और अपने अन्दर रहे हुए ईश्वर को परम शुद्ध बनालो ।

आज तप की स्थिति काफी स्थूल-सी बन गई है । प्राय: उपवास, बेला, तेला, अठाई, मासखमण व आगे निराहार रहकर ही तपस्या की इतिश्री समझ ली जाती है । सच पूछें तो यदि इस निराहार रहने के साथ भावनाओं का सम्बन्ध नहीं जुड़ता तो वैसे तप से न तो अशुद्धता ही नष्ट होती है और न तप का सत्य स्वरूप ही आत्मगत होता है । तन तपाने के साथ अगर मन को नहीं तपाया, मन–शुद्धि नहीं हुई तो उस तप को पूर्ण कैसे माना जायगा ?

शास्त्रों में उल्लेख आया है कि यदि कोइ इतनी कठोर तपस्या कर रहा हो कि एक मासखमण करे व पारणे के दिन डाभ के तिनके के अग्रभाग पर जितना अन्न आवे, केवल उसे ही ग्रहण करे और फिर मासखमण पच्चक्ख ले और ऐसी घोर तपफ्या से शरीर को डंठल की तरह सुखा ले किन्तु यदि वह सत्य–असत्य का भेद न समझता हो— सच्चा ज्ञान और श्रद्धान उस में नहीं हो तो वह बाह्य तप जीवन में शुद्धता नहीं ला सकेगा ।

इसलिये यह आवश्यक है कि आभ्यन्तर तप के महत्त्व को समझकर तप के बाह्य और आभ्यन्तर – दोनों पक्षों को अपनी साधना में सन्तुलित बनाये रखें । बाह्य से तन तपेगा तो आभ्यन्तर तप से मन तपेगा । तन–मन दोनों के तपने

के बाद ही ज्ञान और श्रद्धा के बल से सच्चा आचरण उत्पन्न होगा. जिस चेतना और बुद्धि को—निर्विकार आत्म-स्वरूप को अपना पति बनाना है, उसे पहले ज्ञान, विवेक और श्रद्धा के प्रति अपनी निष्ठा बनानी होगी तथा उनके साथ तपाराधन करना होगा।

ऋषभदेव भगवान् की प्रार्थना के माध्यम को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिये कि पति की उपमा स्वयं के चैतन्य को दी गई है चैतन्य की अशुद्धता को नष्ट करने का ही मुख्य लक्ष्य तप का होना चाहिये। तप का लक्ष्य तभी प्राप्त हो सकेगा जब उसका आराधन विचार एवं निष्ठा के साथ होगा। आत्मशुद्धि के लिये तप का निर्देश इसी कारण है कि आत्मा ईश्वरत्व प्राप्त करने के लिये स्वयं के ही पुरुषार्थ को जगावे एवं कर्मरत बनावे। दूसरे के पुरुषार्थ पर आधारित किये जाने वाले कार्य की सम्पूर्ति की कोई सुनिश्चितता नहीं होती है। स्वयं का पुरुषार्थ और चेतन्य जिस दिन जागृत हो गया, समझ लीजिये कि उसकी आत्मा में शुद्ध ईश्वरत्व का अंकुर भी लग गया है।

यह बाहर दिखाई देने वाला तप तो आसानी से बन सकता है किन्तु आन्तरिक तपश्चर्या का महत्त्व उससे बहुत अधिक है, बल्कि आन्तरिक तपश्चर्या मूल है, आत्मा है तो बाह्य तप उसकी शाखा और शरीर है। मन की गहराइयों में दबे हुए विकारों का शमन करने में ही तपस्या की पूर्ण सार्थकता का शास्त्रों में उल्लेख है। तप के जो बारह भेद किये गये हैं, उनमें एक वर्ग तो बाह्य तप का है तथा दूसरा वर्ग आभ्यन्तर तप का है दिखाई देने वाला एक तप है–

अनशन। उणोदरी भी तप है। साधु भिक्षाचरी करता है, उसे भी तप बताया गया है। प्रतिसंलेखना भी तप है क्योंकि यह इन्द्रियों को गोपन करने वाला है। किसी को शारीरिक अथवा बाह्य शक्ति उपवास, बेला तेला आदि करने की नहीं है, तब भी वह तप कर सकता है। वह तप है पांचों इन्द्रियों को ज्ञान के साथ अपने अधीन रखे, उन्हें विकारी भावना के साथ बहने न दे।

इस महत्त्व भरे तप की रूपरेखा यह होगी कि विकारी मन इस अशुद्ध ईश्वर को वासनापूर्ण नृत्य, नाटक या सिनेमा देखने के लिये ले जाना चाहता है, उस समय यदि चेतना और बुद्धि विवेक धारण कर ले और निज स्वरूपरूपी पति को वर ले तो आत्मा की जागृति के साथ चेतना निश्चय कर लेगी कि अब देखने नहीं जाना। इन पैरों को – इन नेत्रों को वहां जाने से मना कर देगी। वह सोचने लगेगी कि वासनापूर्ण दृश्य मेरा स्वामी नहीं है जो मैं उसके पीछे लगूं। विवेकी बुद्धि सोचती है कि ये नेत्र यदि वासनापूर्ण दृश्य देखेंगे तो उसके प्रभाव से विकारी बनेंगे। इस विचार के साथ यदि नियंत्रण कर लिया तो यह नेत्र सम्बन्धी तप बन जायगा। इसी प्रकार कोई विकारपूर्ण गायन कानों की राह से गुजर रहा है और कानों को नियंत्रण में ले लिया गया तो वह कानों से सम्बन्धित तप हो जायगा। रस-स्वाद से इसी प्रकार जिह्वा को नियंत्रण में लेनें से तथा नासिका को गंधों के मोह में पड़ने से रोक लेने से जिह्वा और नासिका का तप हो जायगा।

यदि चेतना और बुद्धि इतनी सजग बन जाय कि वह पग-पग पर आत्मा को इधर-उधर पर-पदार्थों में भट-

कने से बचाती रहे तो वह उत्कृष्ट प्रकार का तप होगा। अब मैं आप लोगों से पूछूं कि तप की इस दिशा में आप क्या करेंगे? वास्तव में मैं आपको क्या कहूं? आपको कहूं या आपकी बुद्धि को कहूं? पहले मैं यह पूछ लूं कि आपकी बुद्धि क्या भगवान् को पति बनाना चाहती है? कहीं "यस्मात् गृहीतं तस्मै समर्पितम्" के अनुसार तो आप नहीं सोचते हैं? सद्-विचारों को ग्रहण करने और तदनुसार अपने आचरण को ढालने की भावना प्रत्येक को बननी और रहनी चाहिये।

अनादि काल से आत्मा ने अपना पतिव्रत धर्म छोड़ रखा है और वह पर–पदार्थों के सहवास में भटक रही है। यह संसार की माया आप वरण करके चल रहे हैं पर इसे वरता कौन है? बुद्धि ही तो इसे वरती है। आप बाजार में से दो पैसे की हंडिया लाते हैं, उसकी भी ठोक बजाकर जांच करते हैं लेकिन आपने अपनी बुद्धि को ऐसी अनियंत्रित बना रखी है कि वह किसी को भी वरती फिरे और उसका आप परीक्षण ही न करें। इस परीक्षण के अभाव में ही तप का स्वरूप ओझल हो रहा है, क्योंकि जब कोई चौबीसों घंटे संसार के भोग–विलास के पीछे भाग रहा हो तो कैसे वह अपनी बुद्धि का परीक्षण करने की क्षमता पैदा कर सकता है तथा कैसे उसे नियंत्रित रखकर अपनी आत्मा को तप की दिशा में प्रवृत्त बना सकता है? ऐसे लोगों के लिये स्व. आचार्य श्री फरमाया करते थे—

पैसो म्हारो परमेश्वर, लुगाई मेरी गुरु।
छोरा–छोरी सालिग्राम, सेवा बांकी करुं॥

आत्मिक विचारणा और जागरणा की यह दशा

अवश्य ही विचारणीय है । शुद्ध बुद्धि ही शुद्ध ईश्वर को समझ कर शुद्धता की ओर गति कर सकती है और तपाराधन करके अपनी सम्पूर्ण अशुद्धता को नष्ट कर सकती है। किन्तु सांसारिक विषय, वासना और मोह में जो आत्म-विस्मृत हो गया हो तो सबसे पहले कुत्सित बुद्धि-चेतना पर ही चोट करनी होगी ताकि आगे के अन्धेरे मार्ग पर तीव्र प्रकाश की रेखाएँ खींचने में बुद्धि सहायक बन सके ।

आज इस दशपुर (मन्दसौर) नगर में चातुर्मास का आरम्भ हो रहा है और मैं सोचता हूं कि इस चातुर्मास काल में एक वक्त भी आपकी बुद्धि शुभ स्वरूप का चयन करके आगे चल पड़े तो प्रारम्भिक भूमिका निर्माण का कार्य तो अवश्य ही सम्पन्न हो सकता है । सम्बन्ध करना हो तो पहले आप क्या करते हैं ? यही न, कि सगाई करते हैं तब तिलक निकालते हैं, जिसके साथ कुछ देय भी देते हैं । तो यह चातुर्मास का आरम्भ अपनी बुद्धि द्वारा ईश्वर को वरने–उसके साथ संबन्धित होने का एक तरह से प्रारम्भ ही है और आपको ध्यान रखना है कि संबन्ध करने के बाद के सारे रीति-रस्म इसमें भी पूरे करने होंगे। यदि शुद्ध ईश्वर को पति बनाने के लिये तिलक की तैयारी है तो उसका देय भी देना होगा और सबसे ऊपर यह ध्यान राखिये कि तप से वढ़कर दूसरा श्रेष्ठ और उन्नायक देय कोई भी नहीं है । इन्द्रियों के दमन के भाव से ही आज आप मंगलाचरण करें और उसके रूप में भगवान् को प्रसन्न करने के लिये आज से ही तपाराधन प्रारम्भ कर दें ।

चातुर्मास काल का महत्त्व आप भलीभांति जानते हैं कि यह समय ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के

लिये सुनिश्चित है। जिस आराधना की सहायता से अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखते हुए अपनी आत्मा के शुद्ध-स्वरूप को प्रकट करने की दिशा में भागीरथ प्रयत्न किया जा सके। इस दृष्टि से कुछ छोटे-छोटे व्रतों का मैं आपके सामने उल्लेख करना चाहता हूं, जिन्हें आप सरलता से धारण करके पाल भी सकते हैं। किन्तु उसके साथ ही उनके भावनात्मक पहलू की तरफ पूरा ध्यान देने से भाव-शुद्धि का कार्य भी पूरा हो सकेगा। एक तरह से ये व्रत आपके ताप को दूर करके आपकी तप की निष्ठा को अभिवृद्ध ही बनावेंगे।

इन पालनीय व्रतों का संक्षेप में यहां मैं विवरण दे रहा हूं—

(१) आज से चातुर्मास-समाप्ति तक कम-से-कम आप वासनापूर्ण विचारों से भरे हुए सिनेमा, नाटक, नृत्य आदि देखने का त्याग करें। कामोत्तेजना और विकार से अलग हटने का यह एक विचारपूर्ण कदम होगा।

(२) जिह्वा-तप का अभ्यास बढ़ावें। इस जीभ पर इस प्रकार नियंत्रण करने का यत्न करें कि इस मुंह से गलत वचन नहीं निकाले, झूठ नहीं बोले, कटु शब्द नहीं कहे और दिलों को तोड़ने वाले शब्द-बाणों से विरत रहे। वचन की शक्ति को सत्-साहित्य के पठन, मनन और अनुशीलन में लगाने की साधना की जाय। दूसरा जिह्वा-तप स्वाद-जय की ओर भी आगे बढ़े। वास्तव में जो स्वाद को जीत ले, वह साधु वृत्ति वाला ही बन जायगा, वरना लोग साधु को भी स्वादु कहने लग जाते हैं।

(३) चार माह तक तो

करें। रात्रिभोजन को आजीवन त्यागना परम श्रेष्ठ है। क्योंकि इससे आपके शरीर और आत्मा दोनों के सुस्वास्थ्य में उन्नति होगी। जब कई पशु–पक्षी तक रात्रि में भोजन लेना पसन्द नहीं करते हैं तो मनुष्य को तो उसे छोड़ना ही चाहिये। यह भी तप का ही एक प्रकार होगा।

(४) भाव एवं कर्म-शुद्धि की दृष्टि से इस अर्से में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना भी श्लाघ्य होगा। ब्रह्मचर्य को सभी तपों में श्रेष्ठ बताया है, क्योंकि कामजय ही आत्मिक-उन्नति का मूल है।

(५) कुछ हाथ का तप भी करें कि व्यापार में आप न कम–ज्यादा तोलें और न नापें। हाथ से खोटा जमाखर्च नहीं करें और नम्बर दो के खाते नहीं खतावें। नम्बर दो के नाम से आप चौंकते हैं किन्तु ध्यान रखिये—यह चोरी है। स्व० आचार्य श्री जी फरमाया करते थे कि हाथ में ताकत है तो दान दो और इतनी उदारता से दो कि कोई भी दुःखी, दर्दी, निराश न हो। अगर आपके पास देने को नहीं है तो उसे सहानुभूति दो, विश्वास और प्रेम दो।

(६) मानसिक तप का क्षेत्र यह होगा कि इस चातुर्मास के आरम्भ से क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियों को जीतने का अभ्यास शुरू किया जाय। आप जब क्रोध को जीतने का यत्न करेंगे तो उसके स्थान पर स्नेह फूटेगा। मान टूटेगा तो नम्रता प्रकटेगी, माया हटेगी तो सरलता पैदा होगी और जब लोभ नहीं रहेगा तो त्याग-वृत्ति पनपेगी। यह मानसिक तप सर्वोत्कृष्ट कहलायेगा।

(७) यथासाध्य नियमित रूप से सामायिक, प्रति-

क्रमण करने का भी क्रम बनावें। क्योंकि वैचारिक दृष्टि से ये व्रत उत्तम साधन हैं, जिन से कि आत्मा का परिमार्जन हो। बाह्य तप की आप आराधना करें हो किन्तु उसके आन्तरिक महत्त्व को विस्मृत करके नहीं।

इस सत्य को हृदयगम करने की नितान्त आवश्यकता है कि तप ऐसा हो जो आपके शरीर और आत्मा दोनों को हिला दे और हिला भी क्या दे झकझोर डाले। जब विकारों का इस बुद्धि पर आक्रमण होता है तो पहले वह प्रलुब्ध हो जाती है और उससे भावना-शून्य होकर अपने हिताहित का भान ही खो बैठती है। जिस चेतना का जितना निज स्वरूप लुप्त होता चला जाता है, उतनी वह ताप ग्रसित होती चली जाती है। जैसे गंजा जब अपनी खाज मिटाने के लिये कुचरता है तो एक बार उसे मीठा–मीठा सुख-सा जरूर महसूस होता है किन्तु वह कितना धोखेभरा होता है उसका भान उसे तुरन्त ही हो जाता है जब खाज मिटाने से खून बहने लगता है और उससे फिर खाज बढ़ती ही जाती है। यही संसार के ताप की स्थिति है।

ताप जितना तीव्र होगा, उससे मुक्ति की अभिलाषा उतनी ही तीव्र होगी। किन्तु जो भावनाशून्य आत्माएँ हैं वे तापतप्त होकर भी फिर-फिर ताप की भट्टी में गिरती रहती है। किन्तु जिन आत्माओं में जागृति का सूक्ष्मांश भी एक बार पैदा हो जाता है वे ताप से मुक्त होने के लिये सत्प्रयास शुरू कर देती हैं और इस सत्प्रयास का मूल बिन्दु है तप–जिसे जीवन के प्रत्येक क्षण में विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हुए भी अपने इन्द्रियनिग्रह एवं समतामय भावनाओं के आधार पर साधा जा सकता है। ताप को मिटाने की पूर्ण

क्षमता तप में है, क्योंकि तप वह अग्नि है जो आत्मा को सोने की तरह निखार कर कुन्दन बना देती है।

जीवन में बुद्धि और परमात्मा का संबन्ध स्थापित एवं घनिष्ठ बनाने वाला भी यह तप ही है जिसकी सम्यक् और भावनापूर्ण आराधना से यह आत्मा परमात्मा के रूप में परिणित हो जायगी। यह नश्वर विभाव रूप जब छूटेगा तभी अमर मूलस्वरूप प्रकाशित हो सकेगा।

(मन्दसौर, दिनांक २८-७,६६)

सच्चे सेवक की ऊंचाई

सेवाधर्मः परम गहनो, योगिनामप्यगम्यः ।

आज का प्रसंग एक विचित्र ढंग से आया है । इस संसार में समय-समय पर अनेकानेक प्रसंग आते रहते हैं— कभी उल्लास का प्रसंग आता है तो कभी-कभी विषाद का। विषाद का प्रसंग चित्त में व्यथा उत्पन्न करता है। वह व्यथा किसी व्यक्तिगत रूप से उत्पन्न हो तो एक मोह का कारण बनती है, किन्तु जब कोई ऐसा व्यक्ति अपनी जीवन-लीला समाप्त करता है जिसने अपना जीवन मानव-समाज और समस्त प्राणीवर्ग की सेवा में न्यौछावर कर रखा हो तो उसके लिये होने वाली व्यथा सार्वजनिक कल्याण को पहुंचने वाली क्षति से उत्पन्न व्यथा होती है । आज भी एक महापुरुष एवं महातपस्वी मुनि श्री बख्तावरमलजी महाराज के स्वर्गारोहण पर बोलने का प्रसंग आ रहा है अतः ऐसी ही व्यथा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है ।

ऐसे महात्माओं के स्वर्गारोहण के अवसर पर व्याख्यान बन्द रखे जाने की परम्परा है— ठीक उसी तरह जैसे बड़े नेताओं या विशिष्ट पुरुषों के देहावसान पर सार्वजनिक अवकाश रखे जाते हैं। मैं ऐसी परम्परा को उचित नहीं मानता

हूं। जब एक कर्मठ व्यक्तित्व हमारे बीच में से उठ जाता है तो उसको सम्मान और श्रद्धांजलि देने का यह ढंग कैसे समुचित कहलायगा कि हम साधारणतया जो लोकोपकारक कार्य करते हैं, उनसे भी विरत हो जायं ?

विशिष्ट पुरुषों के प्रति श्रद्धा प्रकट करने, उनका सम्मान प्रदर्शित करने की प्रेरणापूर्ण पद्धति यही हो सकती है कि हम साधारण कार्य से भी आगे बढ़कर कुछ विशेष कार्य इस प्रकार करें कि उससे विशेष सेवा एवं विशेष उपकार का प्रयास बन पड़े। यदि किसी सन्त महात्मा का प्रसंग है तो यह प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि उनके जीवन-सम्बन्धी आदर्शों की प्रभावपूर्ण प्रेरणा फूंकी जाय, जिससे जन-समुदाय में श्रेष्ठ धरातल का निर्माण हो सके।

गुण का अर्थ अच्छी बात और रस्सी दोनों होता है। रस्सी जितनी अच्छी सामग्री की और मजबूत होगी तो उससे उतने ही सशक्त आक्रामक को बांध कर अपने नियंत्रण में लिया जा सकेगा। उसी प्रकार गुण भी जितनी अधिक श्रेष्ठता से सद् होगा, उतनी ही धीरता और गम्भीरता से आत्मिक दोषों को नियंत्रित करके नष्ट किया जा सकेगा गुण साधारण शब्द है यदि वह अच्छी दिशा में आगे बढ़ाने वाला है तो सद्गुण है और बुरी दिशा में धकेलता है तो दुर्गुण कहलाता है।

सद्गुण संस्कार, शालीनता और साधना से प्राप्त होते हैं। जिसके जीवन में यह विचार होता है कि वह अपने स्वार्थ से दूर रहकर सम्पूर्ण प्राणी-जगत् के लिये अपनी शक्तियों को समर्पित कर देगा, उसका लक्ष्य सदैव सद्गुणों की ओर रहता है, बल्कि इस विचार के साथ जो भी कार्य

वह हाथ में लेता है, वह सद्गुण का प्रतीक बन जाता है। एक-एक सद्गुण उसके कार्य का कारण और प्रतिफल दोनों बनता है । सद्गुणी भावना से श्रेष्ठ कार्य का जन्म होता है तो सद्गुणी वृत्ति से उसका परिणाम भी शुभ होता है। इसी प्रकार की निरन्तर कर्म-साधना से जीवन में सद्गुणों का संचय होता है ।

एक-एक सद्गुण भी जो ग्रहण कर लेता है, वह न सिर्फ अपने ही जीवन में नवीनता का संचार करता है, अपितु अपने आसपास के वातावरण में भी वैसी ही नवीन प्रेरणा का संचार करता है । यह जो अपने आप को तथा अपने आस-पास के वातावरण को प्रभावित करने का सामर्थ्य सद्-गुण में होता है उसी सद्गुण को जब आत्मा ग्रहण करती है तो उसकी समर्थ अवस्था निरन्तर अभिवृद्ध होती चली जाती है । इस प्रकार जब एक ही सद्गुण उच्च दिशा की ओर इतना परिवर्तन ला सकता है तब निश्चय मानिये कि सद्गुणों का संचय इतना क्रांतिकारी और त्वरित परिवर्तन आत्मिक अवस्था में लाता है कि युगों का विकास कुछ क्षणों में ही संपूर्ण हो जाता है ।

सद्गुणों के इस संचय में यदि सर्वोपरि स्थान किसी एक को देने को कहा जाय तो वह अवश्य ही सेवा का सद्-गुण होगा । वास्तव में सेवा इतनी कठिन मानी गयी है कि उसमें परिपूर्णता किसी साधारण मनुष्य में आना तो कठिन है ही किन्तु योगियों को भी उसकी प्राप्ति अति कठिन मानी गयी है । यह समझने की वस्तुस्थिति है कि सेवा की साधना को अगम्य क्यों माना गया है ? इस भावना और वृत्ति में ऐसी किस उच्चता का समावेश है कि जिसे साधकर मनुष्य

योगसाधना से भी ऊपर उठ जाता है।

सेवा का सीधा-सादा अर्थ यह है कि मनुष्य अपने को भूल जाय और सिर्फ दूसरों को ही याद रखे । स्वार्थ की जहां सम्पूर्ण समाप्ति हो जाती है वहीं से सेवा के मार्ग का प्रारम्भ होता है। एक सेवक का जीवन उसका अपना जीवन नहीं होता बल्कि वह तो संपूर्ण प्राणी समाज के हित में सर्वांशतः समर्पित होता है । यही कारण है कि सेवा करने वाले को अपने सुख-दुःख की कभी भी चिन्ता नहीं होती । उसकी चिन्ता ही यह होती है कि कौन दुःखी है, वह क्यों दुःखी है तथा उसके दुःख को दूर करने के लिये वह बड़े से-बड़ा क्या बलिदान कर सकता है ?

आज जब मैं मुनि श्री बख्तावरमल जी महाराज के आदर्श-जीवन की ओर दृष्टि-पात करता हूं तो उनके समग्र साधु-जीवन में उनका सेवाभाव प्रमुख रूप से दिखाई देता है। उनके जीवन के कई प्रसंग मेरी आँखों में तैर रहे हैं, जब उन्होंने सेवा के लिये बड़े-बड़े त्याग किये । सच पूछा जाय तो संसार में सेवा से बढ़कर दूसरी तपस्या नहीं है। आत्मा को तपाने का नाम तप है. किन्तु जब विश्व-कल्याण के लिये तप किया जाय तो वह सेवा कहलायेगा । सेवा से मनुष्य की आत्मा में रहे हुए विकार तो नष्ट होते ही हैं किन्तु उसके साथ ही दूसरों की पीड़ा को आत्मसात् करने एवं वह पीड़ा जब तक मिटाई न जा सके तब तक विराम न करने की प्रवृत्ति भी पुष्ट हो जाती है । सेवा मन को झकझोर कर उसे करुणा से आप्लावित कर देती है । इसीलिये श्रेष्ठ परिणाम की दृष्टि से ही सेवा को योगियों के लिये भी अगम्य बताया गया है ।

२६-ताप और तप

योगी लोग साधना के लिये दुर्गम पर्वतों की निर्जन गुफाओं में जाकर साधना की कड़ियों को जोड़ने का यत्न करें—यह अलग बात है किन्तु सेवा के गहन तत्त्व की निर्लेप भावना से साधना की जाय—यह कतई दूसरी बात होगी। निर्जन गुफाओं में साधना करते समय तो उन्हें बाधा पहुंचाने वाला अन्य कोई होता नहीं, इस कारण वे शांत-दान्त बने रह सकते हैं, किन्तु जब सेवा का प्रसंग आता है तो सेवावृत्त जीवन में चारों ओर से बाधक-ही-बाधक खड़े होते हैं। कार्य में थोड़ा-सा भी विलम्ब हुआ तो दसों लोग टोकने वाले मिल जायेंगे। कोई नजदीक आकर खड़ा हो जाय तो तिरस्कार मिलता है कि बड़ा ढीठ है, छाती पर ही आकर खड़ा हो गया। दूर खड़ा रहे तो कहने वाले मिल जायेंगे कि बड़ा घमंडी है, पास में आने में भी अपनी हेठी मानता है, इसी तरह सेवा के काम में ज्यादा बोले तो बड़बोला और कम बोले तो मुंहचढ़ा कहा जाता है।

सेवा की इस विषम स्थिति का रहस्य यह है कि एक सेवक को पग-पग पर अति कठिन नियंत्रण एवं संतुलन के साथ चलना होता है। एक क्षण के लिये भी जहां यह संतुलन टूटा, वहां लोकनिन्दा का पहाड़ उस पर टूट पड़ता है। इसके विपरीत सेवा की लम्बी और सजग साधना के बाद ही जन-समुदाय सेवक की परख करता है और उसे अपना सम्मान देता है। इसके पहले तक उसे निरन्तर वचनों के प्रहार झेलने पड़ते हैं और यदि वह उन प्रहारों से अपने अन्तर्मन को अक्षत बनाये रख सकता है तभी वह संसार की श्रद्धा का पात्र बन सकता है। यही कारण है कि सेवा के व्रत में जो अखंडित रह कर चलता है, वह महातपस्वी भी

कहलाता है। श्री बख्तावरमल जी महाराज सेवाभावी और महातपस्वी दोनों थे।

यह सर्व-विदित सत्य है कि सेवा करने वाला किसी प्रलोभन या भय के वशीभूत होकर सेवा नहीं करता बल्कि अपनी आन्तरिक प्रेरणा से ही द्रवित होकर सेवा के पथ पर गति करता है। उसकी सेवा का कारण आत्मिक प्रेरणा होती है तो उसका फल आत्मिक शुद्धि के रूप में भी सहज ही प्राप्त होता है। सेवा की साधना गहन साधना तो होती ही है। किन्तु वह आत्मानन्द से भी भरी-पूरी होती है। राजयोग की अपेक्षा सहजयोग की साधना, हठयोग की अपेक्षा सेवा के सहजयोग की साधना निश्चय ही बलवती होती है, क्योंकि उससे मन क्रमिक रूप से निरन्तर सधता हुआ चला जाता है। मन का सधना ही आत्मा का सधना है और जब आत्मा सधती है तो उसकी गति अपने परम स्वरूप की ओर तीव्रतम हो जाती है। सेवा आत्मा को परमात्मा का निर्मल स्वरूप प्रदान करती है।

सेवा और सेवक की दृष्टि से देखते हैं तो आज की दुनिया की स्थिति बड़ी विचित्र-सी लगती है। जहां देखें, जिसे देखें वह अपने आपको सेवक बताता है और कहता है कि वह जो कुछ करता है, सिर्फ सेवा के लिये करता है। परिवार में परिवार का प्रत्येक सदस्य बोलता है कि मैं परिवार की सेवा करता हूं। कितनी क्या सेवा करता है—इसे देखें तो कदाचित् वह उनकी आर्थिक समस्या हल करके अपने वृद्ध परिवार-जनों के पांव दबा देगा, उनकी चिकित्सा करा देगा या ऐसे ही दूसरे काम काज कर लेगा और इसी आधार पर उसे सेवाभावी कह दिया जाता है। परिवार से

आगे बढ़ कर जब वह मोहल्ले और गांव की सेवा के लिये आगे बढ़ता है तो उसका महत्त्व भी आगे बढ़ता है। इसी क्रम में जब कोई देश और दुनिया की सेवा का बीड़ा उठाता है तो उसे सर्वाधिक सम्मान भी मिलता है।

किन्तु दुःख तो तब होता है जब कोई प्रकट तो यह करता है कि वह परिवार, गांव, देश या दुनिया की सेवा कर रहा है, लेकिन छद्म रूप से अपने ही स्वार्थों को पूरा करते रहने की कुचेष्टा करता है। यह दम्भ भरी स्थिति बनती है जब किसी के प्रति उसकी अन्तर् वृत्तियों का सही अनुमान लगा पाना कठिन हो जाता है। हमारे अपने देश भारत में ही स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से अनुभव किया जाता है कि खास तौर से राजनीतिक क्षेत्र में ऐसी स्थिति का विस्तार ही हुआ है। सेवा के नाम पर जब दम्भ बढ़ता है तो वह अधिक घातक परिस्थिति बन जाती है। इससे कोई जितना शीघ्र सावधान होने का प्रयास करेगा उतना ही वह पतन के गर्त में गिरने से बचेगा, चाहे वह व्यक्ति हो अथवा राष्ट्र या समाज। भारत में भी इस सावधानी की आज बड़ी अपेक्षा है।

सेवा के दो रूप माने जा सकते हैं—एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म रूप। जैसे पांव दबाना, दवाई देना आदि शारीरिक शुश्रुषा के रूप स्थूल सेवा कहलायेंगे और यह स्थूल रूप इन्द्रियजन्य होगा, वहां सेवा का सूक्ष्म रूप अधिकांशतः अनुभवजन्य होगा। परिवार का सदस्य यदि परिवार के वृद्धजनों की शारीरिक एवं भौतिक सेवा करके सेवक कहलाता है तो वहां सन्तजन करुणा और दया का पाठ पढ़ा कर आध्यात्मिक रूप से लोगों को सेवा के मार्ग पर आगे बढ़ाना चाहते हैं। शारी-

रिक सेवा से यदि क्षणिक सुख की महसूसगिरी दी जा सकती है तो आध्यात्मिक सेवा से आत्मिक आनन्द की अनुभूति मिलती है।

सांसारिक दृष्टि से भी सेवा के सूक्ष्म रूप को समझने के लिये आप राष्ट्रपति का उदाहरण ले सकते हैं। कहा यह जाता है कि राष्ट्रपति सारे राष्ट्र का सेवक होता है याने वह सारे राष्ट्र की सेवा करता है। कैसे करता है वह सारे राष्ट्र की सेवा? क्या वह सारे राष्ट्रवासियों के पांव दबाता है? क्या वह एक-एक नागरिक को जाकर संभालता है? यदि नहीं तो वह राष्ट्र का सेवक कैसे हुआ? उसकी सेवा का सूक्ष्म रूप यह होता है कि स्वयं राष्ट्रपति का पद किसी को इसलिये दिया जाता है कि उसने अपनी अथक सेवा से सारे राष्ट्रवासियों के हृदय में ऐसा सम्मान भरा स्थान पा लिया है जिसे पुरस्कृत किया जाना राष्ट्र का कर्तव्य हो जाता है। राष्ट्रपति को इस प्रकार सेवा का प्रतीक समझ कर राष्ट्र का सेवक माना जाता है। इसी तरह एक शिक्षक जहां किसी के मन को ऊपर उठा कर उसकी सेवा करता है तो एक चिकित्सक किसी के तन को स्वस्थ बना कर अपने आपको सेवक बताता है।

सर्वत्र सेवा के विविध रूप आपको दिखाई देंगे, किन्तु इन सबके बीच सच्ची सेवा कौन-सी है इसकी परीक्षा जब तक आप नही करेंगे तब तक सेवा के विशुद्ध स्वरूप का विकास भी निर्बाध रूप से विकसित नहीं हो सकेगा, सच्ची सेवा की साधना वहीं देखी जा सकेगी जहां किसी आत्मा ने अपने समग्र जीवन को मानव समुदाय एवं समग्र प्राणीवर्ग की हितकामना में न्यौछावर कर दिया हो। समर्पण की इस शीर्षस्थ भावना को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से चाहे अनुभूत

न किया जा सकता हो किन्तु भावना के क्षेत्र में उसकी महत्ता उत्कृष्ट रूप में ही देखी जायेगी।

साधुजीवन को सेवा की तुला पर तौलने का प्रयास किया जाय तो समझा जा सकेगा कि उसका समर्पण परिवार, गांव, देश और दुनिया के मानव समाज से भी आगे बढ़कर समस्त छः काया के जीवों की रचनात्मक सेवा के लिये है। वह निःस्वार्थ भाव से ऐसी सूक्ष्म सेवा एवं रक्षा रूप भावना से प्रेरित होकर जब अपनी क्रियाओं को संकुचित करता हुआ ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की अभिवृद्धि करता है तो उसकी इस वृत्ति का सहज प्रभाव सारे संसार पर होना स्वाभाविक हो जाता है। सबकी सेवा के बावजूद वह अपना भार किसी एक पर नहीं डालता। वह अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करता है और उसमें भी वह न तो दूसरे के लिये और न अपने ही हेतु दूसरे दिन के लिये संग्रह करता है। सेवा दूसरों की और अपना भार किसी पर नहीं—ऐसी ही सेवक-जीवन की विशेषता होनी चाहिये।

ऐसा ही त्यागपूर्ण सेवा-जीवन मुनि श्री बख्तावरमल जी म. सा. का था। उनके जीवन का एक प्रसंग मेरी आँखों के सामने जैसे आज भी स्पष्ट है। जिस समय मेरी दीक्षा हुई तब स्वर्गीय आचार्य श्री जवाहर-लाल जी म. सा. का चतुर्मास बगड़ी में था और मैं युवाचार्य श्री गणेशलाल जी म. सा. के साथ फलौदी चातुर्मास में था। स्व० जवाहराचार्य का नाम सम्पूर्ण भारत-भूमि में प्रसिद्ध है, जिनके सम्पर्क में जब महात्मा गाँधी पहुंचे तो उनके विद्वत्तापूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्होंने स्पष्ट भाषा में कहा कि इस समय देश में दो जवाहर कर्मठ रूप

से कार्य कर रहे हैं, जिनमें से एक जवाहर बाह्य संसार का कार्य कर रहा है तो दूसरा जवाहर आध्यात्मिक जगत का। गांधी जी ने घड़ी की ओर संकेत करते हुए कहा कि ये घड़ी के पुर्जे लगातार घूम रहे हैं, किन्तु कब तक ? जब तक अन्दर की चाबी ठीक है और अन्दर के पुर्जे दुरुस्त हैं। इसी संदर्भ में उन्होंने जवाहरलाल जी नेहरू को राष्ट्र-नायक बताया तो जवाहरलाल जी म. सा. को धर्म-नायक। ये भाव मुझे आचार्य श्री जवाहर के सन्निकट में रहने वाले पं. मुनि श्री सिरेमल जी म. सा, से श्रवण करने को मिले।

मैं वह प्रसंग बता रहा था कि आचार्य श्री एवं युवाचार्य श्री उस बगड़ी और फलौदी के चातुर्मास के पूर्व अजमेर में मिले। तब बख्तावरमल जी म, सा. भी साथ थे। एक दिन यकायक उनके इसप्रकार वेदना बढ़ गई कि सब संत हैरानी में पड़ गये। उस समय आचार्य श्री जवाहर-लाल जी महाराज साहब ने बख्तावरमल जी महाराज के सेवा-गुप्त की प्रशंसा करते हुए कहा कि ये मेरी धायमाता हैं।

यद्यपि अक्षरीय ज्ञान की दृष्टि से वे उच्च शिक्षित नहीं थे, किन्तु सेवा करने में उनकी तत्परता का दूसरा उदाहरण देखने में कम मिलेगा। उनकी सेवासाधना इतनी उत्कट थी कि वे उसमें अपने आपके शरीर की भी परवाह नहीं करते अर्थात् कितनी ही सर्दी अथवा कितनी ही थली-प्रदेश की उष्णता क्यों न हो, वे सदा आचार्यश्री की सेवा में संलग्न-तत्पर रहते थे। उनकी सेवा में भी करणीदान जी व इन्द्रचन्द जी म. सा. रहे जो स्वयं भी कर्मठ सेवा-भावी हैं। बख्तावरमल जी म. सा. के अन्तिम दर्शन मैं नहीं कर सका, क्योंकि मैं महाराष्ट्र की तरफ दूर निकल गया

था। उनके दर्शन की भावना मुझे अमरावती से मन्दसौर तक खींच लाई किन्तु इतने में ही उनका स्वर्गवास हो गया। उनका भौतिक पिण्ड अब सबके सामने नहीं रहा, किन्तु जिस प्रकार उन्होंने अपने जीवन में सेवा को परम उच्चता प्रदान की, उनका वह आदर्श समग्र चतुर्विध सघ के लिये अनुकरणीय है।

आज के युग में बुद्धिवादी लोग मन में विचारते होंगे कि साधु-जीवन कैसा है और वह किस ओर जा रहा है? तो उनकी शंका का समाधान करने के रूप में मैं कहना चाहूंगा कि सच्चा साधु-जीवन वास्तविक विवेक के साथ छः ही काया के जीवों की सेवा करने में है। आपको शरीर के कई डाक्टर मिलते होंगे और उनकी चिकित्सा-कुशलता से आप लोगों को शारीरिक सुख भी मिला होगा, किन्तु सच मानिये कि आज के अनीति-ग्रस्त जीवन में जितनी अधिक आध्यात्मिक डाक्टरों की आवश्यकता है उतनी किसी और की नहीं। ये आध्यात्मिक डाक्टर अपना जीवन सेवक के स्तर से ही आरम्भ करते हैं और सेवक के पद की गरिमा को जीवन भर निबाहते हैं।

जिस आध्यात्मिक चिकित्सा की मैं बात कर रहा हूं, उसको अपनाये बिना मानसिक रोगों को शांत करना दुष्कर ही होगा। वर्तमान युग की गति जिस दिशा में आगे बढ़ रही है वह आध्यात्मिक विकास की दिशा नहीं है। अपनी उद्दाम वासनाओं के वशीभूत होकर मनुष्य जिस भौतिकता के पीछे दौड़ रहा है, उसे मृगतृष्णा की वितृष्णा ही समझिये। इस प्रकार के मानसिक द्वन्द्व का परिणाम यह दिखाई दे रहा है कि आज का मानव अधिकांशत: मानसिक रोगों से ग्रस्त होता

चला जा रहा है एवं उस कारण से शारीरिक रोगों में भी वृद्धि हो रही है। तो मैं कहना यह चाहता हूं कि इन मानसिक रोगों की चिकित्सा के लिये जिन आध्यात्मिक डाक्टरों की जरूरत है, वे ऐसे सेवक ही हो सकते हैं जो जात-पांत की संकुचितता, भाई-भतीजेवाद के व्यामोह एवं धनी-निर्धन के भेदपूर्ण दम्भ से ऊपर उठे हुए हों। ऐसे सेवकों की आदर्श आभा कोई फैलाता नहीं, वह स्वयमेव ही इस प्रभावात्मक रूप से फैलती है कि वह किसी को भी सहज ही में आनन्दसागर में निमज्जित कर देती है।

इस सत्य वस्तु-स्थिति के रूप में देखा जाना चाहिये कि जो कार्य बाहुबल, सत्ता-बल अथवा धन-बल से सम्पन्न नहीं किया जा सकता है, वह सेवा की शक्ति के द्वारा अनायास ही सम्पन्न किया जा सकता है। किन्तु इस सेवा-शक्ति को पाने का उपाय बताने वाला भी कोई होना चाहिये। वह साधु-संत के सिवाय अन्य कौन हो सकता है? इसके दो कारण हैं, एक तो साधु स्वयं अपने जीवन में सेवा को इस तरह एकीभूत कर ले कि सेवा साधुजीवन का पर्यायवाची बन जाय। दूसरे साधु का जीवन जब सेवा-भावना से ओत-प्रोत होगा तो उसका गहरा असर उसके आसपास के वातावरण में फैले और पैठे बिना रह नहीं सकता। कल्पना कीजिये कि व्यापारिक भ्रष्टाचार को रोकने के लिये सरकार कई तरह के कानून बनाती है, किन्तु इसके साथ ही यह भी कल्पना कीजिये कि जब तक व्यापारी के अन्तःकरण को परिमार्जित नहीं किया जायगा तब तक क्या उसकी व्यापारपद्धति में भी अपेक्षित परिवर्तन लाया जा सकेगा? जहां सत्ता और सम्पत्ति की सफलता का मार्ग समाप्त होता

है, वहीं से सेवा की सफलता का मार्ग आरम्भ होता है।

सेवा कैसी हो, किन-किन क्षेत्रों में हो, किन-किन भावनाओं और विधियों से की जाय— यह एक लम्बा प्रकरण हो जायगा। परन्तु सेवा का यह सर्वोपरिलक्षण अवश्य होना चाहिये कि वह निःस्वार्थ भाव से की जाय। स्वार्थ-पूर्ति की दृष्टि से की जाने वाली सेवा सच्चे अर्थों में सेवा नहीं कहला सकती, वह तो एक व्यापारमात्र ही होगी। स्वार्थ की कुटिल परिधियों से बाहर निकल कर जब मनुष्य दूसरों के दुःखों से द्रवित होकर स्वयं भी उनके दुःख में डूब जाना सीख लेता है तभी वह सेवा की उच्चता के समीप पहुंचने लगता है। निःस्वार्थ भाव से जब कोई सेवा-पथ का पथिक बनता है, तभी वह आत्मविकास की उच्चतम श्रेणियों तक भी पहुंचने लगता है। निःस्वार्थ सेवा वाचाल भी नहीं होनी चाहिये। एक मूक सेवक की जितनी महिमा होती है उतनी आत्मप्रशंसक सेवक की कभी नहीं हो सकती। आत्मिक-शक्ति की विशेषता ही यह है कि वह सूर्य-किरणों की तरह स्वयमेव विकसित एवं प्रकाशित होती है। इस प्रकार की सेवा एक गृहस्थ-जीवन को भी आदर्श बना देती है तो साधु-जीवन के साथ जुड़ कर तो सेवा के रूप में अद्भुत निखार आ जाता है।

एक सेवक की वास्तविक उच्चता का अनुमान भी वही कर सकता है, जिसने स्वयं ने भी सेवा के स्वाद को चखा हो। फूल की तरह सेवक का जीवन कोमलता और सुगन्ध से महकता रहता है। खिलता हुआ फूल वाचाल बन कर किसी को निमंत्रण नहीं देता कि कोई उसके पास आवे और उसकी सुगन्ध का रसास्वादन करे। वह तो मूक बना

डाली पर झूमता रहता है, किन्तु जो भी उसकी एक झलक मात्र पा जाता है, उसकी लुभावनी छटा उसके लिये अविस्मरणीय बन जाती है। सेवक के जीवन को फूल से इसीलिये तुलना की गई है कि उसकी मूक एवं निःस्वार्थ सेवा सारे संसार को अव्यक्त रूप से नित नवीन दिशा का ज्ञान कराती रहती है।

संसार मनुष्य को जहां अपनेपन की सीमा में बांधना चाहता है वहां सेवा न सिर्फ उसे उस जकड़ से ही मुक्त बनाती है, बल्कि उसके सम्पूर्ण जीवन को विसर्जन की राह पर मोड़ देती है — ऐसा विसर्जन जो अपने व्यक्तित्व एवं जीवन तक को केवल दूसरों के लिये समर्पित करवा देता है। जीवन-विकास की यही उच्चतम स्थिति मानी जायगी कि कोई व्यष्टि को समष्टि में विसर्जित कर दे। जैनदर्शन की दृष्टि से इस समष्टि का दायरा छोटा नहीं है। न केवल सारा मानवसमाज अपितु छः काया के सारे जीव जिनमें पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि, वनस्पति आदि के सूक्ष्म जीवाणु भी शामिल हैं, इस समष्टि के अंग माने गये हैं। इन सबकी सेवा और रक्षा के हेतु जो निष्क्रिय व निःस्वार्थ भाव से अपने जीवन का सर्वस्व बलिदान कर देता है, वही एक सेवक की उच्चता तक अपने आप को ले जा सकता है।

एक प्रश्न मैं आपके सामने रखूं कि क्या सेवा से मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है? विकारों से मुक्ति पा जाने का नाम ही मोक्ष है। अब समस्या यह है कि ये विकार मिटें कैसे? मनुष्य जितना अपने ही स्वार्थ के लिये सोचना और करना चाहता है उतने ही ये विकार उसके

जीवन में हावी होते रहते हैं । किन्तु एक बार जब वह अपनेपन के व्यामोह से ऊपर उठ कर सारे संसार को निजत्व में समेटने का प्रयास करता है तो वे विकार अपने आप नष्ट होने लगते हैं । स्वार्थ का प्रश्रय विकारों को घनीभूत बनाता है, इस कारण जहां स्वार्थ को छोड़ा वहां विकार भी छूटने लगते हैं । स्वार्थ तब छूटता है जब मनुष्य सेवा का आश्रय ग्रहण करता है । क्रोध मान, माया और लोभ मनुष्य के मन को कैसे प्रलुब्ध बना सकेंगे, जब वह अपने स्वार्थ को काट चुका हो।

स्वार्थ पर आघात होने से क्रोध प्रकट होता है, उसके फलने-फूलने से मान बढ़ता है, उसको बढ़ाते रहने की तृष्णा में माया प्रवेश करती है तो उससे कभी भी न अघाने की मनोवृत्ति से लोभ का जन्म होता है । सारे विकारों का जनक स्वार्थ है और जब स्वार्थ को विसर्जित कर दिया जाय तब जीवन में विकारों का शेष रहना सम्भव नहीं होता इसलिये स्वार्थ को काटना है तो वह कार्य सेवा को अपनाये बिना नहीं हो सकता । सेवा एक ओर मनुष्य के मन से विकारों को समाप्त कर देती है तो दूसरी ओर उनके स्थान पर विनम्रता, कोमलता एवं भद्रिकता का ऐसा सर्व-प्रिय स्वभाव भी गढ़ देती है, जो उसे उसके चरम को प्राप्त करने में सबल सहयोगी बन जाता है ।

हिमालय की ऊँचाई तो फिर भी नापी जा सकती है किन्तु सेवामय जीवन कितनी ऊँचाई तक बढ़ता चला जा सकता है, उसका नाप आज के भौतिकवादी विज्ञान के पास नहीं है । एक सेवक अपनी सच्चाई की ऊँचाई पर जब चढ़ने लगता है तो जितना अधिक वह विनम्र दिखाई देता है उतनी

ही उसकी उच्चता अगाध बनती जाती है।

ऐसी सेवाभावी एवं तपस्वी आत्माओं के प्रति श्रद्धांजलि तो हम समर्पित करें ही किन्तु इतना ही करके हम उन्हें भूल जायें तो यह हमारी अधूरी श्रद्धांजलि होगी। वास्तविकता तो यह होनी चाहिये कि हम उनके सेवा-जीवन से अपने आप को अनुप्राणित करें एवं अपनी समग्र निष्ठा के साथ सबकी सेवा में अपने जीवन को खपा देने का शुभ प्रयास करें। फूल खिलकर मुरझा जायगा किन्तु उसकी सुगन्ध वायुमंडल में समाविष्ट होकर महकती ही रहेगी। यही मानवजीवन की भी स्थिति है, जिसकी सेवा से प्राप्त सुकीर्ति आध्यात्मिक जगत को युगों-युगों तक प्रेरणा के पथ आगे बढ़ाती रहती है।

(मन्दसौर दिनांक २६-७-६६)

मानदण्ड-जय-पराजय का

पंथड़ो निहालू रे, बीजा जिन तणों रे
अजित अजित गुणधाम।
जे ते जीत्या रे, तें मुझ जीतिया रे
पुरुष किस्यूं मुझ नाम।
चरम नयण करी मारग जोवतां रे
भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करि मारग जोइये रे
नयण ते दिव्य विचार।

ये भगवान् अजितनाथ की प्रार्थना की पंक्तियां हैं। कल से आज की प्रार्थना की पंक्तियों का रूपक बदल गया है, भगवान् के नाम में भी परिवर्तन हुआ है, पंक्तियां बदल सकती हैं, नाम बदल सकता है, पर सिद्धस्वरूप का अवस्थान नहीं बदल सकता है। वह अजर अमर और अचल अवस्थान है। वहां पूर्ण स्थिरता है। जब भी आत्मा उस परम पवित्र स्थान पर स्थित होगी, तभी वह अचलता को प्राप्त कर सकेगी।

उसी अचल अवस्थान को प्राप्त करने की दृष्टि से एवं उसका मार्ग शोधने की दृष्टि से कवि जीवन के अन्तर की प्रबुद्धता को जागृत करना चाहता है कि अपने भावना-कुसुमों को सिद्ध प्रभु के चरणों में अर्पित करे। हम भी कवि के साथ उस दिव्य चरम स्वरूप का पंथड़ा निहालते हैं, क्योंकि उसी पथ से "अजित अजित गुणधाम" सिधारे हैं।

इस सत्य को हृदय में गहरे उतारने की आवश्यकता है कि आत्मा की अजित अवस्था तभी बनती है, जब वह अचलता में स्थित हो जाती है। जहां अचलता आई, वहां अजितता भी आ जायगी। अजित का शाब्दिक अर्थ यही होता है कि जो सबको जीत चुका हो और जिसको कोई जीत नहीं सके। इसलिये इस शब्द के साथ जय और पराजय जुड़ी हुई है। परन्तु इस जय-पराजय को सांसारिक अर्थ में लेना भूल होगी। भगवान् के स्वरूप में साधारण हार–जीत का सवाल नहीं है। उन पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता—यह स्थिति उनकी उस चरम दिव्यता की परिचायक है जो समभाव की परम साधना से प्राप्त होती है। जब आत्मा समभाव को उच्चतम श्रेणियों में पहुंच जाती है तब जय–पराजय की हीन भावना समाप्त हो जाती है। समभाव को अपुष्ट अवस्था में ही मनुष्य जय–पराजय की हीन भावनाओं में गोते लगाता है और अपने व्यक्तित्व को उस गलत कसौटी पर आंकता रहता है।

मनुष्य सोचता है कि मैं उससे हार गया और सन्तप्त होता है तो दूसरी ओर यह सोचकर कि उसने किसी और को हरा दिया है, झूठे अभिमान के झकोरों में भी बहने लगता है। किन्तु जब वह समभाव के महत्त्व को समझकर

उसके अनुकूल अपने व्यवहार एवं अभ्यास को ढालने लगता है तब उसके हृदय में जय-पराजय की एक समीक्षा जन्म लेने लगती है और वह सोचने लगता है, कि मैं किससे हारा—मैंने किसको जीता? कोई-सी भी विजय प्राप्त करके अगर मनुष्य मन में अभिमान ले आये तो समझिये कि वह जीता नहीं, हारा है।

उस दिशा में ज्ञानदृष्टि फैलाकर जब जय-पराजय की स्थितियों पर चिन्तन किया जाय तो नया ही निष्कर्ष सामने आयगा। कोई जीत कर इतराता है तो उसकी जीत छिछली है और कोई हार कर भी जीवन के नये सत्यों का अनुसन्धान करता है तो भावनात्मक दृष्टि से कौन कहेगा कि वह हार गया है? सबसे ऊँचा मानस उसका होगा जो हार और जीत एक ही पलड़े में रखता है याने कि समभाव की आराधना करता है।

समभाव का आराधक एक सच्चे खिलाड़ी की तरह होता है जो हार और जीत को कभी भेद की नजर से नहीं देखता। खिलाड़ी खेलते हैं— निश्चय है कि एक जीतता है और दूसरा हारता है। जो जीतता है, दुनिया उसका अभिनन्दन करती है, बधाइयां देती है किन्तु सच्ची नजर से हारने वाले को देखने वाले भी मुश्किल से ही मिलते हैं। जय की धारा में बहने वाले बहुत मिलेंगे और यही कारण है कि जय प्राप्त करने वाला अक्सर अभिमान, आडम्बर और दम्भ के प्रपंच-जाल में ग्रस्त हो जाता है। तब उसकी जय विकृत स्वरूप ग्रहण कर लेती है। फिर एक बार की जीत भी सदा की जीत बन जाय—ऐसा नहीं होता। जीतने वाला हारता भी है और हारने वाला फिर जीतता भी है।

जय-पराजय की स्थितियां इस विचा-रविन्दु से परिवर्तनशील होती है। इस संसार में अधिकांशतः अवसर की ही बात होती हैं कि किसी क्षेत्र में कभी कोई जीत गया तो कभी वही हार गया यदि कोई जीत के साथ अभिमान को पकड़ बैठता है तो हार के समय उसको कितनी और कैसी लज्जा में गड़ जाना पड़ता है— वह मनोदशा भी विचित्र ही होती है। आप रात-दिन देखते हैं कि एक बार कोई अत्यधिक धनोपार्जन करके लक्षाधिपति या कोट्याधिपति भी हो जाता है, किन्तु ऐसा अवसर भी आ जाता है जब वह धनहीन होकर दर-दर की ठोकरें खाने लगता है। आजकल तो चुनाव होते हैं और बड़ी-बड़ी तोपों के लुढ़कने और नयों-नयों के चुनकर आ जाने के समाचार आप पढ़ते रहते हैं।

इसलिये जय-पराजय की विभिन्न परिस्थितियों में यदि मनुष्य तदनुसार सुख और दुःख मनाता रहे तो उसके चित्त की चंचलता कभी भी मिटाई नहीं जा सकेगी। चंचलता जीवन को विकृति की ओर ले जाने वाली है तो अचलता को प्राप्त करना जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। बाह्य दृष्टि से हम देखते हैं कि अमुक कहीं हारा और अमुक वहां जीता। पहलवानों की कुश्ती होती हैं, खासे दांव-पेचों के बाद भी देखा जाता है कि एक हारा और दूसरा जीता।

यह हार-जीत का नाटक इस दुनिया में कदम-कदम पर चलता है और चलता हुआ दिखाई देता है। तन के पहलवानों को छोड़िये, वचन के पहलवान तो हर कहीं दिखाई देंगे। वाक् युद्ध में जैसे कोई भी हारना नहीं चाहता और अक्सर हर कोई इस युद्ध की हार-जीत को मन में गडाये

रखता है तथा प्रतिशोध के अवसर ढूंढ़ता रहता है।

सोचने की वस्तुस्थिति यह है कि हार-जीत को इस कोण से समझने का तरीका क्या पवित्र भावनाओं को सजग बनाने का है ? क्या जय–पराजय का ऐसा सांसारिक दंभ भगवान् अजितनाथ के 'अजित मार्ग' पर अग्रसर कराने वाला है ? क्या ऐसी जीत सच्ची जीत है और क्या हारने वाला नगण्य हो जाता है ? इन चर्मचक्षुओं से दिखाई देने वाली हार और जीत क्या सचमुच में हार और जीत होती है अथवा सच्ची जय–पराजय का मार्ग वही है जिसे अजित प्रभु ने संसार के समक्ष प्रकाशित किया है ?

कवि ने इसका उत्तर दिया है—

" चाम नयण करि मारग जोवता रे,
भूल्यो सकल संसार।"

इन चर्म-नेत्रों से जिस मार्ग को हम खोज रहे हैं, वह आत्मोत्थान का मार्ग नहीं है और इस कारण अजित अवस्था प्राप्त करने का मार्ग भी नहीं है। आप देख रहे हैं, लेकिन फिलहाल देखने का आपका साधन क्या है–चमड़े की आँखें ही तो हैं न ? इन्हीं की सहायता से जब सब कुछ देखा जाय तो संसार की वास्तविकता पहिचानना कठिन हो जायगा। तभी कहा जाता है कि इन्सान भूला हुआ है।

आत्म-विस्मृति की इस दशा को दूर तभी किया जा सकता है जब अन्तर-दृष्टि पैदा की जाय। आदमी बाहर जरूर देखे किन्तु बाहर को देखकर अन्दर की ओर झांके, विचारे और फिर निर्णय ले कि यह अन्दर–बाहर की ऐसी जटिल विषमता किस प्रकार मिटाई जा सकती है ? तब

सांसारिक जय-पराजय को समभाव से देखने की दृष्टि का विकास होगा और इसके साथ ही आत्म—जय का मार्ग प्रशस्त होगा। जहाँ यह समभाव की दृष्टि पैदा नहीं हुई, वहां आत्म पराजय का पतन आरम्भ होता है। इसलिये समभाव की अनुभूति महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश करती है।

यह अन्तर्-दृष्टि ज्यों—ज्यों पुष्ट और परिपक्व होती जाती है, विकारों और वासनाओं पर आत्मा की जीत भी एक से दूसरे मोर्चे पर होती चली जाती है। इस सच्ची जीत से दृष्टि में जो अद्भुत निखार आता है, उसे ही दिव्य-दृष्टि का नाम दिया जाता है। अचलता और अजितता की स्थिति की उपलब्धि दिव्य-दृष्टि की ही उपज होती है।

दिव्य-दृष्टि इस चर्म दृष्टि से परे होती है। मन, वचन और मस्तिष्क की दृष्टि से भी वह आगे बढ़ी हुई होती है—वह आत्मा की अन्तर्-दृष्टि के धरातल पर ओज पाकर निखरने वाली दृष्टि होती है। ऐसी दिव्य-दृष्टि कहां पैदा होती है ? क्या वह कहीं बाहर से आती है या परि-मार्जित हो-होकर अपने अन्तर् से ही उद्भूत होती है ? किन्तु यह उद्भूत तभी होती है जब सांसारिक और आत्मिक दृष्टियों के बीच का जाला टूट जाता है। यह जाला क्या है ? यह विकारों और वासनाओं का जाला है जो आत्मा को इन्द्रियों के वश में पटक कर अन्तर्-दृष्टि को उभरने भी नहीं देता। चर्म-चक्षु ही प्रमुख बन कर उसे बाह्य पदार्थों में लुभाते रहते हैं कि उसके ज्ञान—चक्षु खुलते ही नहीं। चर्म-दृष्टि ही जहां सबकुछ बनी रहती है, वहां दिव्य-दृष्टि लुप्त ही रहती है।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप और उसकी दिव्य-दृष्टि इसी पिण्ड में विद्यमान है, किन्तु उसकी समग्र शक्तियां कर्मों के जालों से अदृश्य हो रही हैं दबी हुई हैं। कर्म का तात्पर्य दो अर्थों में लिया जा सकता है। एक तो यह कि शरीर के अंगोपांगों को हिलाना, उठना, बैठना, चलना आदि, किन्तु कर्म का दूसरा अर्थ यह लिया जाता है जो आध्यात्मिक अर्थ है कि जो इस सारे कर्म की क्रियाओं का प्रतिफल होता है, वह कर्म है। "या या क्रिया, सा फलवती" अर्थात् जो-जो क्रिया होती है, उसका फल होता ही है। प्रत्येक क्रिया फलदायिनी होती है। वह फल बाहर भी दिखाई देता है और अन्दर भी महसूस होता है। शरीर के अन्दर रहने वाली ज्ञानवान् आत्मा जिस भावना से जो भी क्रिया करती है, उन समस्त क्रियाओं का फल जरूर मिलता है। उसके पीछे कर्म स्कन्ध रूप बारीक रजकण की-सी स्थिति आत्मा पर आच्छादित होती है।

जैसे चुम्बक के प्रभाव से लोहे की कोई भी वस्तु उसके निकट खिंचती है, वैसे ही इस आत्मा के अन्दर जब विकार या कषायपूर्ण भावना बढ़ती है तो उसकी भी एक चुम्बकीय प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया के जरिये कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ चिपकते हैं। इन पुद्गलों के भार से आत्मा की शक्तियां दबती हैं जिससे जड़ शक्ति का उभार होता है। इसी जाले को काटने की जरूरत होती है कि जिससे दिव्य-दृष्टि को प्रकाशित किया जा सके।

इन कर्मपुद्गलों के आठ विभाग बताये गये हैं। इनमें से आयुष्य कर्म की स्थिति सिर्फ शरीर के रहने तक ही सीमित रहती है। शेष कर्मों में ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान

शक्ति को दबाता है और दर्शनावरणीय कर्म दर्शन शक्ति को। अस्थायी सुख और दुःख की जो अनुभूति है, वह वेदनीय कर्म से सम्बन्धित है। सुख और दुःख का वेदन करने वाला चैतन्य आत्मा होता है किन्तु वेदन की अवास्तविक दृष्टि के साथ जो सुखाभास और दुःखाभास किया जाता है वह वेदनीय कर्म का साता और असाता रूप है।

कल्पना कीजिये कि कोई बीच बाजार में जा रहा है और उसको दूसरे ने हाथ नचाकर कहा कि क्यों ऐंठ कर चल रहे हो मूछों के बाल उखाड़ लूंगा। उसने सिर्फ कहा है, बाल उखाड़े नहीं हैं, फिर भी वह कैसा अनुभव करने लगता है, जैसे उसे उसने पराजित कर दिया हो और वह उस पराजय भाव के दुःख से एकदम दुःखित हो उठता है तथा यदि वह उसका तत्काल प्रतिशोध लेने की अवस्था में न हो तो उसके दुःख का आर–पार नहीं रहता। यह कैसी पराजय है, जिससे दुःख पैदा हो, प्रतिशोध पैदा हो और हिंसा पैदा हो ? दूसरी ऐसी ही घटना यह हो कि पोता गोद में खेलता–खेलता दादा की मूंछ के बाल हकीकत में उखाड़ ही डाले। तब क्या वैसा दुःख पैदा होता है ? बल्कि पोते के प्रमोद से सुख की महसूसगिरी ही होती है। यह दुःख और सुख की महसूसगिरी का जो भेद है, वह अवास्तविक भेद है तथा आत्मा की अज्ञान दशा का परिचायक है। यह अज्ञानता का पर्दा एक जाल है जो चर्म-दृष्टि और दिव्य-दृष्टि के बीच में तना हुआ है तथा दिव्य-दृष्टि को प्रकट होने में अवरोध पैदा करता है।

वेदनीय कर्म के इन दोनों रूपों में जो समभाव के साथ चलता है, वह अज्ञान की नई क्रियाएं नहीं करता और

न ही उन क्रियाओं के फल के रूप में नये कर्मों का वन्ध करता है। साता और असाता को वह निमित्तमात्र मानता है तथा अपनी ज्ञान स्थिति में वह सुख से न तो सुख का और न दुःख से दुःख का अनुभव करता है। सुख या दुःख को वह पूर्व कर्मों का उदय मानकर समवृत्ति से सहन कर लेता है। ज्ञानी और अज्ञानी का यही अन्तर होता है कि एक तो जय-पराजय को आत्मिक दृष्टि से देखता है और विकास की सीढ़ियों पर ऊपर चढ़ता जाता है वहां दूसरा जय–पराजय की सांसारिकता में डूब कर सुखी और दुःखी होने की मिथ्या एवं भ्रामक धारणाओं में अपने आपको ग्रस्त करके पतित होता जाता है।

जय-पराजय का यह नक्शा ज्ञान या अज्ञानदशा के आधार पर अलग-अलग रूप में होता है। आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाला ज्ञानी पुरुष जय उसे समझता है जब वह अपने कर्म शत्रुओं को क्षय करता चला जाता है और पराजय तब, जब क्षणिक दुर्बलता से कर्म-शत्रु से वह हार खाता है। इस जय–पराजय के अनुभव से उसमें सद्गुणों का विकास होता है और आत्मविकास करने का उत्साह शतगुणित होता रहता है। तब वह पतितात्मा या कि संसार की विकृत व्यवस्था से भी घृणा नहीं करता, उसे सुधार कर श्रेष्ठ बनाने का सत्प्रयास करने लगता है। सांसारिक जयपराजय की परिस्थितिया तो उसके लिये समभाव के कारण महत्त्वहीन हो जाती हैं। उनके प्रति उसकी दृष्टि निरपेक्ष और निर्विकार हो जाती है।

अब मोहनीय कर्म की स्थिति को देखें तो समझ में आयेगा कि जैसे मदिरा पीकर कोई मनुष्य अपने आप को

खो देता है और मदिरा के नशे के वश में हो जाता है, उसी प्रकार यह मोह मनुष्य को सच्चेतना से बेभान कर देता है—आत्म-विस्मृत बना डालता है। कोई पूछे कि यह आत्मा मलिन क्यों बनती है तो उसका सीधा-सा उत्तर होगा कि मोह के उन्माद से। पुण्यार्जन से मानव देह तो मिल जाती है, किन्तु कर्मों के प्राबल्य से सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चेतना की जागृति मिले या नहीं मिले—यह दूसरी बात है। ऐसी जागृति जब नहीं मिलती है तब विकारी भावना भी आती है और उससे यह आत्मा मलिन बनती है। विकारी भावना का ज्वर मोह कर्म कहलाता है जिसकी उत्तेजना जब तक जीवन में बनी रहता है तो वह कहां क्या करेगा उसकी सुव्यवस्थितता का कोई अनुमान सही तौर पर नहीं लगाया जा सकता है। आठों कर्मों में प्रधान व सर्वाधिक बलशाली मोहनीय कर्म ही होता है जिसे काटने के लिये आत्मा को भी सर्वाधिक कठोर साधना करने की आवश्यकता पड़ती है।

आप गृहस्थाश्रम में रहने वाले संसार में देखते होंगे कि जिसकी आदत मद्यपान की हो जाती है, वह आसानी से उसे छोड़ नहीं सकता, बल्कि नशे की आदन बढ़ती ही जाती है। समय पर मदिरा नहीं मिले तो एक तरह से वह छटपटाने सा लगता है। यह उन लोगों का अनुभव है जो मदिरा सेवन करते हैं। फिर भी सोचिये, जब बाहर की मदिरा भी इतना तेज असर करती है कि शरीर के प्रत्येक अंग से मस्तिष्क तक सूचना पहुंचाने वाली नाड़ियां भी शिथिल होने लगती हैं तो मोहनीय कर्म रूपी अन्तर् की मदिरा का कितना तीव्र एव उत्तेजक प्रभाव होगा—उसका

सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

मदिरा की समूची चोट चेतना पर होती है और चेतना के मन्द होने से शारीरिक शक्तियां दुर्बल होने लगती हैं। उसी प्रकार मोहनीय कर्म भी आत्मिक चेतना पर आघात करता है और ऐसी जड़वत् दशा बनाता है कि आत्मा अपने ही सही स्वरूप को परखने एवं निखारने में अक्षम हो जाती है। मनुष्य की ज्ञान शक्ति पर इस कर्म के आच्छादित होने के पश्चात् उसका अन्तर् शून्य-सा होने लगता है और वह विकारों से ओतप्रोत होकर अन्धा-सा बन भान भूल जाता है। यह मोह-कर्म आत्मिक गुणों को दबा देता है और आत्मा को भवभ्रमण में भटका देता है।

आत्मिक-विकास के सोपान में इसी कारण कर्म-जय को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है। अपने अन्दर रही हुई विवेक एवं चेतना शक्ति जब किसी भी सत्प्रेरणा से जागृत होती है, तभी कर्म-जय का सत्पुरुषार्थ भी पैदा होता है। इसी मार्ग पर चल कर जो जीत हासिल करता है, कर्मों को हरा देता है, वही जीवन की समुन्नत ऊँचाइयों तक इसी जीवन में पहुंचता है। विजय का गूढार्थ है कर्मों पर विजय और जो इसी जीवन में कर्मों को जीत लेता है, उसे हम अरिहंत मानकर पूजते हैं।

अरि याने शत्रुओं के हनन करने वाले का नाम है अरिहंत, वे शत्रु और कोई बाहर के शत्रु नहीं, इसी आत्मा के शत्रु–कर्म होते हैं। कर्मों के जालों को हटा कर जो आत्मा को पूर्णतया निर्मल बना लेते हैं वे महापुरुष ही अरिहंत होते हैं जो यहां साक्षात् सद्धर्म का मार्ग सबको दिखाते हैं। अरिहंत बनने का मार्ग आसान नहीं है। हम देखते हैं

कि अधिकतर लोग छोटी-मोटी उपलब्धि पाकर भी फूल जाते हैं और यह समझने लगते हैं कि उन्होंने जीवन में पूर्णता प्राप्त कर ली है। इस भ्रान्ति में वे अपना ही अहित नहीं करते, बल्कि संसार को कई बार गलत राह पर भी मोडने की चेष्टाएँ करते हैं। अरिहंत बनने के लिये शत्रुओं को नष्ट करना होता है और शत्रुओं को नष्ट करने के लिये युद्ध करना पड़ता है। तो निश्चय मानिये कि जब आत्मा और कर्मों के बीच भीषण युद्ध छिड़ता है तब उसका रूप भी कम भयंकर नहीं होता।

वास्तविक रूप में जय-पराजय का गूढ़ रहस्य इसी युद्ध में निहित है। एक ओर कर्म अपनी वासनाओं और अपने विकारों के तीव्र शस्त्रों का प्रयोग आत्मा पर करते हैं, मोह की मदिरा पिलाते हैं कि वह क्षत-विक्षत होकर बेभान बनी रहे और उस पर उनका साम्राज्य चलता रहे, तो दूसरी ओर जागृत आत्मा न सिर्फ सफलतापूर्वक उनके वार झेलती है, बल्कि अपनी कठिन तपस्या एवं साधना से उन पर ऐसे-ऐसे सांघातिक वार भी करती है कि वे टूटने लगते हैं और निरन्तर की गति से एक दिन उन्हें समूचे रूप में नष्ट कर डालती है। इस युद्ध में जो आत्मा सफल बनती है, वही सत्य रूप से विजयी कहलाती है।

यह स्मरणीय है कि ज्यों-ज्यों इस युद्ध में कोई आत्मा विजय प्राप्त करती रहती है, त्यों-त्यों उसकी विनम्रता, आर्जवता एवं मृदुलता बढ़ती जाती है। विजयी बनने का यहां अर्थ होता है अधिक विनम्र बनना। यह आत्मिक-विजय सद्गुणों को चमकाती है। अन्दर की स्थिति जब इस तरह सुधरती है तो फिर बाहर का वातावरण भी सहा-

यक बन जाता है। अन्दर की विजय और उससे प्राप्त विमलता बाहर के समग्र वातावरण में एक नयापन घोल देती है, जिससे दूसरी आत्माओं पर भी विमलता का वांछित प्रभाव प्रकट होने लगता है।

पराजय की स्थिति वहां बनती है जहां इस युद्ध में आत्मा कर्मों की शक्ति के आगे हार मान लेती है। विकार और वासनाएं उस पर छा जाती हैं और वह मूर्च्छा में डूब कर मदहोश हो जाती है। ऐसी दशा में बाहर का वातावरण भी आत्मा का शत्रु बन जाता है। जैसे क्षय रोग के कीटाणु वायु के जरिये शरीर में प्रवेश करके उसे क्षयग्रस्त बना देते हैं यानी उड़ने वाले सांप श्वासोश्वास के साथ अपना विष मिला देते हैं और शरीर को विष व्याप्त कर देते हैं, उसी प्रकार इस पराजय से आत्मा कर्मों के कीटाणुरूप विष से पीड़ित बन जाती है।

ऐसी पराजय को फिर जय में बदलने के लिये, उन कीटाणु एवं विष को नष्ट करने के लिये तथा आत्मा को सुस्वास्थ्य प्रदान करने के लिये ही हमने संसार छोड़कर साधु-धर्म ग्रहण किया है और आपको भी श्रावक बना कर हम वैसी ही प्रेरणा देना चाहते हैं कि आप भी अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहिचानो और उसे अपने सत्साहस एवं सत्कर्म से प्राप्त करने के लिये कमर कस लो। सतत जागृति, सतत साधना एव सतत सफलता ही पराजय से जय की दिशा में आत्मा को मोड़ सकती है। आत्मा के जाले इसी तरह टूटते हैं और इसी तरह अचलता एवं अजितता की शक्तियों का प्रकाश प्रकट होने लगता है। भगवान् अजित-

नाथ की प्रार्थना इस सच्ची जीत को हासिल करने की प्रेरणा देती है।

यह प्रेरणा सफल तभी बनती है जब इसकी भी सच्ची शिक्षा मिले और इस मार्ग पर चलने का अभ्यास बने। संसार में अर्थोपार्जन की दृष्टि से भी लौकिक शिक्षा ली जाती है और ग्रेजुएट या पोस्ट-ग्रेजुएट बनने के लिये कई बर्ष खपाए जाते हैं। संसार में अर्थ का जितना मूल्य आप करते हैं, आत्मा के लिये वह अर्थ है कर्मों पर विजय—वह अमूल्य होती है। जिसने जय–पराजय के इस आन्तरिक महत्त्व को समझ कर अपनी कर्मठता में उतार लिया है, वह निश्चय ही एक दिन "अजित अजित गुणधाम" बन कर रहता है।

इसी जीवन में सच्ची जय का आनन्द लेना है और पराजय को पास में भी फटकने नहीं देना है तो कर्मों के साथ डटकर युद्ध कीजिये और उसमें ऐसी गौरवभरी विजय का वरण कीजिये कि यह आत्मा भी भगवान् श्री अजितनाथ के परमात्म-स्वरूप के निकट पहुंचती हुई अमर अचलता एवं अजितता को प्राप्त कर ले।

[मन्दसौर–दिनांक ३०–७–६९]

प्रकाशमय पूर्णता बनाम परम्परा की अंधता

पंथड़ो निहालूं रे बीजा जिनतणों रे
अजित अजित गुणधाम ।
जे ते जीत्या रे ते मुझ जीतिया रे
पुरुष किश्युं मुझ नाम ।
पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां रे
अंधो अंध पुलाय ।
वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे
चरण धरण नहीं ठाय ।

श्री अजितनाथ प्रभु की प्रार्थना की पंक्तियों पर ही विचार चल रहा है। प्रार्थना में उस मार्ग का संकेत है जो प्रभु ने बताया और इसलिये बताया कि वे उस पर चलकर चरम स्थिति को प्राप्त हुए। उस निर्मल चरम स्थिति के मार्ग पर कोई भी चले तो उसे भी आत्मा का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो सकेगा। उस मार्ग को ढूंढ़ लेना, पहिचान लेना

और फिर उस पर चलने का कठिन प्रयास करना— यह प्रत्येक ज्ञानवान् का कर्तव्य है।

प्रार्थना में भक्त का विनम्र प्रकटीकरण है कि अभी तक मुझे भगवान् द्वारा प्रकाशित पथ दृष्टिगत नहीं हुआ है और मैं सिर्फ परम्परा की स्थिति को लेकर और यह सोच-कर कि पूर्व के पुरुष ने अमुक प्रकार का आचरण किया था, अमुक प्रकार से सोचा था और उसने अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया तो मैं भी उसी विधि से चलूं तो मैं भी उसी लक्ष्य को पा लूंगा— यह जो अनुसरण और अनुकरण मात्र की वृत्ति है, उसे अंध-वृत्ति ही कहा जा सकता है। क्योंकि छद्मस्थ व्यक्ति जब आत्मा के कल्याणपथ का अनु-सन्धान करता हुआ चलता है तो चूंकि वह ज्ञानादि में अपूर्ण होता है इसलिये अंधमति से यदि उसका अनुकरण किया जाय तो उसके सफल होने में सन्देह रहेगा ही, क्योंकि अपूर्ण व्यक्ति का अनुकरण भी अपूर्ण ही रहेगा और अपूर्ण अनुकरण से पूर्ण सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है— यह सहज ही सोचा जा सकता है।

जैसे आगे एक अंधा व्यक्ति चले और उसे दूसरा व्यक्ति पकड़ कर, अपनी आंखें बन्द रखकर उसके पीछे-पीछे चले तो आंख होते हुए भी दूसरा व्यक्ति आसानी से कहीं भी खड्ढे में गिर सकता है, चट्टान से टकरा सकता है, यानी कांटों में उलझ सकता है। अधिकतर लोगों की ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि जैसा आगे चल रहा है, वैसा हम भी करते जावें, किन्तु इतना-सा भी वे सोचने का कष्ट नहीं करते कि आगे जो चल रहा है वह किसी पूर्ण ज्ञानी का

चलाया हुआ है या अपूर्ण पुरुष द्वारा। इस तरह लकीर के फकीर बनने को अन्धानुकरण कहते हैं।

भगवान् के उन्नति-पथ को ढूंढ़ने के लिये दो बातों का एक साथ खयाल करना पड़ेगा। एक तो जिसका अनुकरण करना चाहते हैं, वह पूर्ण पुरुष हो ताकि उनके अनुकरण में अविकास, अंधकार या अज्ञान का कोई खतरा नहीं रहेगा। पूर्ण ज्ञान के साथ प्रकाशित पथ, पूर्णता की ओर ही अग्रसर करेगा। किन्तु जो अपूर्ण है, छद्मस्थ है, उसका अनुकरण सदैव सुरक्षित नहीं होगा। सबसे बड़ी बात तो यह है कि सुरक्षा की स्थिति अपनी ही ज्ञानदृष्टि पर आधारित करके गति करने का उपक्रम किया जायगा तो यह निजाधार अधिक सुरक्षित बन सकेगा।

इस कारण दूसरे बिन्दु की ओर मैं विशेष ध्यान दिलाना चाहता हूं कि जिस सच्चे मार्ग को हमें ढूंढ़ना है, उसे पहिचानना है और उस पर चलना है, उसके लिये पूर्ण पुरुष के पूर्ण आदर्श जीवन को तो अपने समक्ष रखें ही, परन्तु अपनी आंखों को सदैव खुली रखें। इन आंखों से मेरा अभिप्राय केवल चर्मचक्षुओं से ही नहीं, अपितु ज्ञान-चक्षुओं से भी है। ये चक्षु जब खुले रहेंगे तो निजात्मा के चेतन धर्म का विकास भी इस प्रकार होगा कि परख बुद्धि स्वतः ही प्रखर बन कर सच्चे मार्ग का अनुसंधान कर लेगी और उस पर चलने की दृढ़ता भी उत्पन्न कर लेगी।

स्व-जागृति के इस पक्ष को मूलाधार मानना चाहिये। यही पक्ष आत्मा को सतत जागृति की स्थिति में स्थापित करता है। अन्तर् की जागृति की न्यूनाधिकता की अवस्था

में कभी भूल हो सकती है, लेकिन पतन नहीं हो सकता। अन्धता, जड़ता या स्थिरता की दशा कभी सामने नहीं आती और यह अपूर्णता की क्षति के प्रति निश्चित रूप से स्वस्थ गारंटी होती है। जब अपने में अंधता नहीं होगी तो कभी अंधा अनुकरण भी नहीं होगा, अंधा अनुकरण नहीं होगा तो अपूर्णता के प्रवाह में बहना भी नहीं होगा और वैसी अवस्था में पूर्ण पुरुष भगवान् अजितनाथ का विजयी पथ खोज निकालने में अधिक कठिनाई नहीं आयगी।

पूर्ण पुरुष होने के नाते भगवान् का मार्ग परम्परा की स्थिति का नहीं माना जा सकता है। वह तो वीतराग स्थिति का मार्ग है और वीतराग अवस्था पर जिस महा-पुरुष ने अपना अवस्थान बना लिया है, उन्होंने ही मोक्ष का सच्चा मार्ग पाया है और तब वे जिस मार्ग का अपने पूर्ण ज्ञान में उल्लेख करते हैं, वह निश्चय ही सच्चा मार्ग है। किन्तु बिना वीतराग अवस्था को प्राप्त किये जो पुरुष उपदेश करते हैं, वह उनकी साधना—स्थिति के अनुसार उप-योगी व प्रकाशपूर्ण हो सकता है, फिर भी उसमें अपूर्णता की स्थिति तो रहती ही है। वह उपदेश यदि वीतरागवाणी का अनुगामी है और उसमें अपूर्ण हठवाद के आधार पर अपना यदि कुछ नहीं जोड़ा गया है तो वह सच्चे मार्ग का उपदेश ही होगा। सर्वज्ञ की ज्ञानधारा को प्रवाहित करते रहने में उसमें अपूर्णता का समावेश नहीं होता तथा उसको ग्रहण करने में व उस पर आचरण करने में अंधानुकरण का आरोप नहीं लगाया जा सकता। अपूर्ण पुरुष यदि वीतराग-वाणी के आधार पर नहीं चलता और अपनी कल्पना को ही आधार मान कर नई जानकारी देता है, उस पर पूर्ण

विश्वास कर लेना ज्ञान-मार्ग नहीं है । उसकी अपने ज्ञान की दृष्टि से समीक्षा करते हुए उसके सत्यांशों को ग्रहण करने की मनोवृत्ति तो फिर भी लाभदायक हो सकती है किन्तु उससे कोई भगवान् अजितनाथ के मार्ग को समझकर पकड़ ही लेगा, उसकी न तो निश्चितता है और न सुरक्षितता ही ।

तीर्थंकर जन्म से ही पूर्णता की ओर उन्मुख होते हैं । जन्म के समय से ही उनको अवधिज्ञान होता है, बल्कि गर्भावस्था में आते ही वे अवधिज्ञान के धारक हो जाते हैं। बाद में बचपन की शिक्षा-दीक्षा और राजकार्य के संचालन में भी वह ज्ञान बना रहता है, जिसके कारण उनका त्वरित विकास केवलज्ञान तक पहुंचता है । अवधिज्ञान का विषय भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के रूपी पदार्थों को मर्यादित रूप से देखने का होता है । जिस प्रकार मनुष्य अमुक दूरी तक अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखता है तथा आगे उपयोग लगाकर जानता है— वह तो अपरिपक्व दशा होती है, लेकिन अवधिज्ञानी तीनों काल के रूपी पदार्थों को निश्चित अवधि के साथ परिपक्व दृष्टि से देख और समझ सकता है ।

अवधिज्ञान एक प्रकार से अन्तर् का प्रकाश है, ज्योति है, जिसकी सहायता से अज्ञान का अंधकार अमुक स्थिति तक दूर हो जाता है । जिस आत्मा को अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसकी आँख, कान आदि बाह्य इन्द्रियों से चाहे काम न भी लिया जाय अथवा मन भी गतिहीन हो जाय तब भी वह अपने अति विकासित आत्मप्रदेशों से भूत, वर्तमान और भविष्य के रूपी द्रव्य एवं तत्सम्बन्धी

पर्यायों को अपनी प्रत्यक्ष दृष्टि में देख लेता है । परम अवधिज्ञान का विषय तो काफी विस्तृत है किन्तु साधारण अवधिज्ञान का विषय भी समझने लायक है ।

इसे समझने के लिये एक दृष्टान्त का सहारा लें । एक व्यक्ति सिर पर गैस लेकर चल रहा है तो बताइये, उस गैस का प्रकाश किधर पड़ेगा ? उसका प्रकाश चारों ओर पड़ेगा । अवधिज्ञान के यों तो अनेक भेद हैं लेकिन इस प्रकाश के रूप में एक भेद यह भी है कि उसका प्रकाश गैस के प्रकाश की तरह चारों ओर गिरता है तथा उस प्रकाश में आने वाले समस्त पदार्थ एवं घटनाओं के क्रम दृष्टिगत हो जाते हैं । उस प्रकाश में कोई जानकारी छिपी हुई नहीं रह सकती है । उनसे रूपी पदार्थ छिपा नहीं रहता । ऐसा प्रकाश तीर्थंकर को माता की कुक्षि में आने के समय से ही फैला हुआ रहता है । ऐसे प्रकाश में वे जब तीनों काल के गतिचक्र को देखते हैं तो उनमें ऐसी क्षमता वैसे ही संगठित होने लगती है कि वे मोक्षमार्ग की स्पष्टता स्वयं देखें और उसे सारे संसार पर प्रकट करें ।

फिर भी तीर्थंकर अपने ज्ञान की उस अवस्था तक साधारण रूप से मोक्षमार्ग का निर्देश नहीं करते हैं और उसका कारण यह होता है कि वे तब तक अपनी पूर्णता के प्रति आश्वस्त नहीं होते । इसलिये जब वे केवलज्ञान प्राप्त करके पूर्ण ज्ञानी हो जाते हैं तभी उपदेश का क्रम आरम्भ करते हैं । दूसरे, वे पूर्व पुरुषों की परंपरा के आधार पर भी नहीं चलते । पूर्व के तीर्थंकर ने क्या उपदेश दिया, उनके क्या शास्त्र थे तथा उनके अनुवर्ती मुनियों ने क्या वाचना दी, इसे भी वे अपने उपयोग में नहीं लेते । प्रायः न तो वे किसी मुनि

का उपदेश-श्रवण करते हैं और न ही वे किसी पूर्व ग्रन्थ का अवलोकन करते हैं। वे अपने समस्त ज्ञान एवं अनुभव को अपनी ही आत्मा की उन्नति की नींव पर आधारित करते हैं और उसी की कसौटी पर उन्हें विकसित करते हुए पूर्णता तक पहुंचाते हैं।

इससे एक निष्कर्ष स्पष्ट रूप से सामने आता है कि अपना अन्तर् तो जागरूक होना ही चाहिये। जो कुछ समझना और देखना है उसे अनुकरण की दृष्टि से भी किया जाय किन्तु आन्तरिक सजगता के साथ। यदि अन्तर् जागृत नहीं है और आप पूर्ण पुरुष की वाणी को भी आचरित करना चाहेंगे तब भी उससे अपेक्षित आत्मिक विकास साधा नहीं जा सकेगा। यह जागरण मूल में होना चाहिये, फिर ज्ञान का प्रकाश उस जागरण को अभिवृद्ध करता रहेगा।

यह विचारणीय है कि ज्ञान की स्थिति ज्ञान तक और श्रद्धा की स्थिति श्रद्धा तक सीमित रहनी चाहिये। यदि ज्ञान को ही एकमात्र ग्राह्य समझ लें तो ज्ञान का विस्तार अवरुद्ध हो जायगा, इसके विपरीत सत्य समझते जावें और साथ में उस पर श्रद्धा करते जावें तो सत्य के नवीन–नवीन रूपों का दर्शन एवं ज्ञान सम्भव हो सकेगा। इसी प्रकार यदि कोई केवल श्रद्धा को ही पकड़ कर बैठ जावे तथा ज्ञान के प्रकाश की अवहेलना करे तो वह श्रद्धा, अंधश्रद्धा का रूप धारण कर लेगी। इसलिये सन्तुलन की सन्मति ऐसी होनी चाहिये कि ज्ञान की सीमा तक ज्ञान का प्रकाश ग्रहण करना चाहिये और श्रद्धा की सीमा तक दूसरों के ज्ञान पर अपना विश्वास भी जमाना चाहिये। ज्ञान एवं श्रद्धा के सम्यक् सम्मिश्रण से किसी भी क्षेत्र में क्षति नहीं

होती और दम्भ अथवा अन्धता पैदा नहीं होती। ज्ञान की शक्ति चारित्र की साधना के साथ धीरे-धीरे विकसित होती रहती है। अमुक सीमा तक बिना चारित्राराधन के ज्ञान का आस्तित्व बना रह सकता है लेकिन उसका उन्नायक विकास चारित्र की स्वस्थ आधारशिला पर ही संभव होता है।

आत्मा के इस क्रमिक विकास की शास्त्रीय दृष्टि से विभिन्न श्रेणियां निर्धारित की गई हैं, जिन्हें गुणस्थान का नाम दिया गया है। गुणों के सोपान के दृष्टिकोण से ये गुणस्थान संख्या में चौदह बताये गये हैं। सम्यक् ज्ञानाचरण की स्थिति पर पहुंचने के लिये सम्यक् दृष्टि का गुणस्थान चौथा कहलाता है। चौथे गुणस्थान में रहने वाली आत्मा सम्यक् दृष्टि होती है तथा उसका ज्ञान भी मति एवं श्रुत अल्प मात्रा तक होता है। इस गुणस्थान में किसी-किसी को अवधिज्ञान भी हो सकता है। जब तक तीर्थंकर राज्य-संचालन की अवस्था में होते हैं उनको अवधिज्ञान होता है और यह अवधिज्ञान देवों को भी होता है। चतुर्थ गुणस्थान की संज्ञा शास्त्रीय परिभाषा में अविरति (अव्रती) सम्यक्-दृष्टि के रूप में है और उस गुणस्थान के साथ तत्त्वज्ञान-दृष्टि का शुभारम्भ होता है। कोई-कोई वहीं पर आत्मा के परिपूर्ण-दर्शन का कथन करते हैं किन्तु यौक्तिक नहीं है, क्योंकि यदि चौथे गुणस्थान पर रहते हुए सम्यक्दृष्टि की अवस्था से ही मोक्ष के प्राप्त होने का प्रसंग है तो फिर राज्य का परित्याग करने की भी आवश्यकता नहीं रहती और सिंहासन पर बैठे-बैठे ही जब चौथा गुणस्थान आता है तो आगे का सम्पूर्ण विकास अल्पतम समय में पूर्ण होकर मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है। फिर चौदह गुणस्थान तक के

क्रमिक विकास की भी जरूरत नहीं रहती। अतः यह समझना चाहिये कि वहां तो केवल स्वरूप-रमण की यत्किंचित् मात्रा उपलब्ध होती है और उसकी पूर्णाहुति क्रमशः चौदहवें गुणस्थान में होती है। यह शंका उठ सकती है कि चौथे गुणस्थान की स्थिति में जब आत्मा का पूरा विकास ही नहीं होता तो स्वस्वरूप में रमण कैसे होता है? तो यह कहना सही होगा कि आत्मा के पूर्ण स्वरूप का रमण तो चारित्र की पूर्णता के बाद ही सम्भव होता है, जिसका क्रमिक विकास आगे के गुणस्थानों में होता है।

यह समझने की बात है कि तीर्थंकरों की सम्यक्त्व कौनसी होती है? उनके क्षायिक सम्यक्त्व होती है तथा जब क्षायिक सम्यक्त्व आ जाती है तब हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञान भी स्पष्ट हो जाता है। इस सीढ़ी पर श्रद्धा की दृष्टि से रमण भी होता है, फिर भी मोक्ष नहीं होता है। अगर चौथे गुणस्थान की प्राप्तिमात्र से मोक्ष होने की श्रद्धा है तो समझिये कि वह त्रिकाल-मिथ्यात्वी है। मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से चौथा गुणस्थान तो पहली सीढ़ी है तथा भूमिका रूप है। इस सीढ़ी पर यह विचार होता है कि चारित्र का श्रेष्ठ विकास साधते हुए पांचवें, छठे और इस तरह चौदहवें गुणस्थान तक पहुंचा जाय। लेकिन जो केवल चौथे गुणस्थान की बात कह कर त्याग, तप की साधना को हेय और त्याज्य बताता है, वह मोक्षमार्ग के विपरीत बोलता है।

इस सूक्ष्म दार्शनिक चर्चा का लक्ष्य यह है कि एक बार भगवान् अजितनाथ के उन्नति मार्ग को पहिचान में ले आवें तथा उसके बाद में भावना की श्रेणी उत्कृष्ट बन जाय

तो आत्मा का शीघ्र विकास संभव हो सकता है। भावना और चारित्र की सम्मिलित उत्कृष्टता आत्मा को ऊर्ध्व दिशा की ओर ले जाती है, परन्तु कभी-कभी भावना की उत्कृष्टता कम-से-कम समय में ऊँची-से-ऊँची श्रेणी तक इस कदर पहुंच जाती है कि चौथे गुणस्थान की भूमिका वाली सीढ़ी से ही सीधी भाव-चारित्र से मोक्षप्राप्ति सम्भव हो जाती है।

भावना और चारित्र की सम्मिलित शक्ति होते हुए भी यदि दोनों की तुलना की जाय तो भावना का इस दृष्टि से स्थान ऊँचा कहलायगा। भावनाहीन चारित्र कभी भी अपने उज्ज्वलतम स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता है, वहां अकेली भावना की सर्वोत्कृष्ट निर्मलता से ही बाह्य वेष-परिवर्तन रूप चारित्र के अभाव में भी कभी-कभी पूर्ण चारित्रिक-विकास के चरम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। भावनामय चारित्र का आराधन तो क्रमिक विकास से चरम विकास तक पहुंचाता ही है। चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक का विकास इसी आराधन का प्रतिफल होता है।

आत्मा की भावना-सरणि श्रेष्ठता के स्थायी प्रवाह में पड़ जाय तथा वह निर्बाध रूप से मुक्तावस्था तक बढ़ती चली जाय—इसके लिये भगवान् अजितनाथ के अजेय मार्ग को पहिचानने व पाने के लिये गम्भीर चिन्तन अवश्य करना पड़ेगा। यह जो दार्शनिक स्वरूप मैं आपको बता रहा हूं, यह कोई मेरी कल्पना की वस्तुस्थिति नहीं है। बल्कि यह सारा विश्लेषण आगामों में उल्लिखित है।

आगम के आधार पर वस्तुस्थिति का विचार करने से तात्त्विक दृष्टि साफ हो जाती है। केवल व्यक्ति की पर-

स्परा के अनुभव की स्थिति के आधार पर चलना अपने आपको अंधे कुए में ढकेलना है। इसके विपरीत प्रकाशपूर्ण सर्वज्ञता की ज्ञानदृष्टि से विरचित आगमों में उल्लिखित तत्त्वों को सामने रखकर भावनामय आत्मानुभूति के साथ आगे बढ़ते हुए यदि अज्ञेय मार्ग को खोजने का प्रयास किया जाय तो निस्सन्देह सही मार्ग मिल जायगा और उस पर दृढ़तापूर्वक चलना भी संभव हो जायगा।

मैं संकेत दे रहा था कि आगमों के निर्देशानुसार तीर्थंकर अवधिज्ञानी और क्षायिक सम्यक्त्वी होने पर भी राज्य-संचालन की अवस्था में वे केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यही कारण है कि जितने भी तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने सब ने राजकीय वैभव एवं सांसारिक जीवन को त्याग कर मुनि-धर्म को ग्रहण किया। इसका स्पष्ट अर्थ है कि चारित्रिक साधना जीवन विकास का आवश्यक अंग है

आप लोग जानते हैं और देखते भी हैं कि मुनि-धर्म को अंगीकार करते समय पांच महाव्रत ग्रहण किये जाते हैं—

"सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं। सव्वाओ अदिन्नदाणाओ वेरमणं। सव्वाओ मेहूणाओ वेरमणं। सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।'

सर्वथा प्रकार की प्राणातिपात हिंसा से निवृत्ति की, सर्वथा प्रकार के मिथ्या का त्याग किया, सर्वथा प्रकार की चोरी, अब्रह्मचर्य की स्थिति तथा परिग्रह की ममता का परित्याग किया। परिग्रह के त्याग का अर्थ है धन, धान्य, द्विपद, चौपद, रुपये पैसे, मुद्रा, धातु वगैरा सब को छोड़ा तथा गांव, नगर की चहल-पहल को भी छोड़कर जंगल में

पहुंचे और साधना का क्रम प्रारंभ किया। तीर्थंकर पांचवें गुणस्थान की स्थिति में नहीं आते। पांचवां गुणस्थान कुछ कमजोरी का है। कई अन्य व्यक्तियों में इतना पराक्रम नहीं होता कि वे चौथे से पांचवां छोड़कर सीधे छठे व सातवें गुणस्थान में पहुंच जावें। लेकिन तीर्थंकर का पराक्रम अद्-भुत होता है और वे सीधे चौथे गुणस्थान से सातवें गुण-स्थान में पहुंच जाते हैं और सातवें की स्थिति भी अधिक नहीं होने से फिर छठे गुणस्थान में आ जाते हैं। स्थिति के अनुपात से छठे व सातवें गुणस्थान में आना–जाना बना रहता है। परन्तु जिसकी आत्मा में आन्तरिक बल, शक्ति और शौर्य है, वही सीधा सातवें गुणस्थान में पहुंच सकता है, क्योंकि इन गुणों के कारण ही भावना की ऊँचाइयाँ शीघ्र उपलब्ध हो सकती हैं।

तीर्थंकरों के इस जीवन-क्रम से यह सत्य स्पष्ट होता है कि साधना का पथ जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य तक पहुंचने के लिये अनिवार्य है तथा उसके लिये त्याग का माहात्म्य भी उतना ही अनिवार्य है। यदि त्याग स्वरूप महाव्रत आदि ग्रहण करना मोक्ष का मार्ग नहीं होता तो तीर्थंकर उसे कभी नहीं अपनाते। त्याग के महत्त्व को प्रकाशित करने की दृष्टि से ही वे साधना की कठिनाइयां झेलते हैं और शारीरिक कष्टों व परिषहों को अविचलभाव से सहन करते हैं। अपने अन्तर् के कर्म शत्रुओं को नष्ट करके वे केवलज्ञान को चरम सीमा तक पहुंचते हैं। सोचने की बात है कि वह अवस्था उन्हें कैसे प्राप्त हुई! यह त्याग की महत्ता होती है, चारित्र की महत्ता होती है। यथाख्यातचारित्र के विकसित होने पर ही ज्ञान की चरम सीमा प्राप्त होती है।

बिना चारित्रिक साधना के केवलज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं बनती है। सर्वविरति चारित्र का छठे गुणस्थान से और देशविरति चारित्र का पांचवें गुणस्थान से ज्यों–ज्यों विकास होने लगता है वैसे–वैसे ज्ञान की प्रगाढ़ता भी विकसित होती चली जाती है। इसके साथ–साथ मोह की ताकत कम होती जाती है और जब तक मोह का बीज पूरे तौर पर नष्ट नहीं हो जाता, केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है।

केवलज्ञान की प्राप्ति को अवरुद्ध करने वाले विविध कर्मों के झाड़ों की जड़ें मोहनीय कर्म के वटवृक्ष की जड़ों व शाखाओं–उपशाखाओं से उलझी हुई रहती हैं। आठों कर्मों में प्रधान व शक्तिशाली मोहनीय कर्म ही होता है। इसलिये चारित्र के बल पर जब तक मोहकर्म को नष्ट नहीं किया जाता, तब तक ज्ञान की चरम स्थिति भी प्राप्त नहीं होती। यही कारण है कि दसवें गुणस्थान में मोह का जो सूक्ष्म बीज बच रहता है, वह भी समूल नष्ट हो जाता है। मोह बीज के नष्ट होने पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों की जड़ें हिलकर उखड़ने लगती हैं। बारहवें गुणस्थान में पहुंचने पर ये तीनों कर्म पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। सेनापति के बल पर सैनिक नाचते हैं सो मोहनीय के नष्ट होते ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय कर्म दुर्बल होकर स्वतः ही नष्ट होने लगते हैं।

अन्तराय का अर्थ होता है कि किसी भी वस्तु की प्राप्ति में बाधा उपस्थित होना। एक पुरुष पुरुषार्थ करता है, उसे उसका फल मिलने ही वाला है कि बीच में ही कोई तीसरा आकर उस फल का हरण कर लेता है—ऐसा प्रभाव अन्तराय कर्म का होता है। आत्मा के सुखादि गुणों में

अन्तराय उपस्थित करने वाला अन्तराय है। इस जीवन में आत्मविकास की जितनी आवश्यकताएं हैं अथवा जिनके कारण उत्थान की परिस्थितियां बन रही हैं, उनमें बाध एं अन्तराय कर्म के उदय होने के कारण ही पैदा होती हैं। इसके विपरीत जब सयम-साधना की सहायता से बाधाओं के कारणों को नष्ट कर दिया जाता है तो अन्तराय कर्म की भी समाप्ति हो जाती है। मोहनीय के बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों के समाप्त होने के बाद तीर्थंकरों को केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है और तब वे अपने प्रत्यक्ष पूर्ण ज्ञान एव अनुभव के बल पर साधारण जन को उपदेश देना आरम्भ करते हैं।

शास्त्र में कहा गया है—

मोक्खमग्ग-गइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसण लक्खण ॥

इस गाथा का भाव यह है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र की उत्कृष्ट स्थिति में पहुंचने के बाद ही तीर्थंकर उस ज्ञात एवं अनुभूत मार्ग पर प्रकाश डालते हैं, पहले नहीं। अधिक पूर्णता और अल्प अपूर्णता की स्थिति होने पर भी केवल-ज्ञान के पूर्व वे देशना नहीं देते। पूर्ण पूर्णता प्राप्ति के पश्चात् वे जिस मार्ग पर प्रकाश डालते हैं, वह मार्ग परम्परा की अंधता से निकला हुआ मार्ग नहीं होता. बल्कि प्रकाशपूर्ण सर्वज्ञता की जगमगाती रोशनी से निखरा हुआ सच्चा मार्ग होता है, जिस पर चलकर निश्चय ही स्व-चेतना का सर्वोत्तम विकास सम्पादित किया जा सकता है। वह मार्ग ही अजेय और अजित मार्ग होता है। ऐसे मार्ग को परखने और अपनाने के बाद आत्मिक गुणों का अत्युच्च विकास

संभव हो सकता है।

इस अजित मार्ग को आप परख लो और अपनाने का निश्चय भी कर लो किन्तु यह तथ्य विचारणीय होगा कि क्या उस पर आत्म-जागृति एवं विवेक के अभाव में चला जा सकेगा? कभी कोई व्यक्ति सोचे कि भगवान ने जगलों में विहार करके विविध प्रकार से कार्य किये तो मैं भी उस प्रकार के कार्य करके मोक्ष के मार्ग को प्राप्त कर लूंगा तो उसका ऐसा सोचना भ्रान्ति पूर्ण ही होगा। भगवान् का हमें अनुकरण करना है वह उनके उन निर्देशों के अनुसार करना है जो उन्होंने केवल-ज्ञान की प्राप्ति के बाद दिये हैं। उनके केवलज्ञान को अवस्था के निर्देशों के प्रतिकूल यदि आचरण किया गया तो वह मोक्ष मार्ग से विपरीत होगा। वास्तव में तीर्थंकरों ने जो-जो आचरण किया वह आचरण हम भी करें ऐसा कोई नियम नहीं है। अपितु उन्होंने कैवल्य-प्राप्ति के बाद जो-जो निर्देश दिये वे ही असल में हमारे अनुकरणीय एवं आचरण योग्य बनते हैं।

प्रकाशमय पूर्णता को समझने के लिये एक रूपक देता हूं। एक परिवार के सदस्य अपने मुखिया के साथ जंगल में घूमने गये। घूमते-घूमते छोटी-छोटा पगडंडियों में वे उलझ गये और रास्ता भूल गये। मुखिया उस समय सारे सदस्यों को एक वृक्ष की छाया में बिठाकर उस बीहड़ जंगल में रास्ते का पता लगाने के लिये निकल गया। मुखिया सोचता है कि यदि अधिक विलम्ब हो गया तो जंगली जन्तुओं द्वारा खाये जाने का भय पैदा हो जायगा, इसलिये वह जल्दी-जल्दी कभी पहाड़ पर चढ़कर और कभी दूसरे प्रयासों से रास्ते का पता लगाने की कोशिश करता है। फिर भी जब

रास्ता नहीं दिखाई दिया तो एक ऊँचे ताड़ के पेड़ पर चढ़कर देखता है तब उसे शहर को ओर जाने वाला रास्ता दिखाई देता है।

वह नीचे उतरकर अन्य सदस्यों से कहता है कि इस रास्ते से चलकर हम शहर में पहुंच सकेंगे। उस समय अन्य सदस्य कहते हैं—पिताजी, आप पहाड़ पर चढ़े, चट्टानों पर चढ़े और पेड़ पर चढ़े तो आपने रास्ता जाना किन्तु हम भी पहाड़ पर चढ़ेंगे, चट्टानों पर चढ़ेंगे और पेड़ पर चढ़ेंगे तब रास्ते की जानकारी लेंगे। आप बताइये कि उस समय में वे सदस्य इस तरह की बात मुखिया से कहें और वैसा करने का आग्रह करें जबकि संध्या-समय नजदीक आ रहा हो तो उसे आप सही बतायेंगे या गलत?

इसी प्रकार तीर्थंकरों ने आत्म-साधना में जो कुछ किया उसे हूबहू करने की जरूरत नहीं रहती है। केवलज्ञान रूपी ताड़ के पेड़ पर चढ़कर जिस मार्ग का ज्ञान उन्होंने हमें अपनी पूर्णावस्था में दिया है, उसे ढूंढ़कर उस पर चलने की ही जरूरत रहती है। उन्होंने जिस आचरण को करने का निर्देश दिया है, वह निर्देशित मार्ग ही हमारे लिये मोक्ष का मार्ग है। जो केवल उनकी छद्मस्थ अवस्था के कार्यों का अनुकरण करते हैं किन्तु केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद चतुर्विध संघ की जो मर्यादाएं उन्होंने बतलाई हैं उनकी अवहेलना करते हैं तो वे मोक्ष-मार्ग का सही पता भी नहीं पा सकते हैं।

ऐसी पूर्ण वाणी के रूप में वीतराग-वाणी आपके सामने है और वह आत्म-विकास के लिये आपको सुलभ भी है। ऐसी वाणी की ओर उपेक्षा रखकर अन्य भौतिक साधनों

के बल पर जो मोक्षमार्ग को ढूंढ़ निकालने का दम्भ करते हैं, वह थोथी भ्राति के अलावा कुछ नहीं । कोई कल्पना करे कि वैज्ञानिक साधनों की सहायता से मनुष्य चन्द्रलोक तक उड़ जायगा और उससे आगे मुक्तिधाम तक भी पहुंच जायगा तो ऐसी कल्पना, कल्पना मात्र ही रहने वाली है ।

भगवान् ने उत्तराध्ययन सूत्र में मोक्षमार्ग का निर्देश किया है कि जो मार्ग सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र से युक्त है, वही मोक्षमार्ग है । उमास्वाति आचार्य ने भी अपने तत्त्वार्थ-सूत्र में मोक्षमार्ग का परिचय इसी प्रकार दिया है—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।"

सारा जैन समाज ही नहीं, आध्यात्मिक दृष्टि से सभी प्रबुद्धजन इस मार्ग को स्वीकार करते हैं । जैन समाज का भी मैं जहां जिक्र करता हूं, वह किसी जाति, दल या पार्टी के रूप में नहीं, एक लाक्षणिक धर्म के रूप में करता हूं । कई भाई इसे एक जाति मानने लग गये हैं किन्तु यह जाति नहीं है । इस मार्ग में क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सभी हैं, जिन्होंने ऊंची से ऊंची आत्म-साधना करके समान सम्मान प्राप्त किया है । आपको इतिहास से ज्ञात होगा कि भगवान् महावीर क्षत्रिय राजकुमार थे, गौतम गणधर ब्राह्मण, धन्ना सरीखे श्रेष्ठि वैश्य और हरिकेशी जैसे शूद्र जाति के मुनि ये सभी एक ही श्रद्धा से वन्दनीय हैं । आज भी जैन साधुओं में कई वर्णों और जातियों के सदस्य मिलेंगे । इसलिये यह मानकर चलिये कि जैनधर्म गुणा-धारित जीवन-दर्शन है, जिस पर चल कर कोई भी सर्वज्ञ-वाणी के प्रकाश में अमरपथ का पथिक बन सकता है ।

इस वीतराग-वाणी की एक ही विशेषता अभी आपके

सामने रखूं जिससे आपको झलक मिल सके कि इसके मार्ग पर चलकर जीवन को कैसी-कैसी सफलतायें प्राप्त की जा सकती है ? " अहिंसा परमोधर्मः " का लोकोपकारी सन्देश महावीर ने आज से २५०० वर्ष पूर्व दिया था किन्तु उसका राष्ट्रीय हित में महात्मा गांधी ने राजनीतिक क्षेत्र में जो उपयोग किया, उसने सफलता की नई सीमाओं को प्रकट किया है । अहिंसा के इस राजनीतिक मार्ग में भी आपने देखा कि जातिवाद मन्दा पड़ गया । महात्मा गांधी कौन थे—मोड़ जाति के बनिये । पंडित जवाहरलाल ब्राह्मण, सरदार पटेल काश्तकार तो डॉ. अम्बेडकर हरिजन । अहिंसा की एक चिनगारी में सारी जातियां एक हो गईं तो भगवान् महावीर ने अहिंसा की जो मशाल जलाई थी उसके तेज प्रकाश में जातिवाद के लिये हठ करना दुराग्रह ही नहीं, जघन्य अपराध भी माना जायगा ऊंच और नीच कहलाने वाले सभी जाति भाई भगवान् श्री अजितनाथ के मार्ग पर कन्धे से कन्धा मिलाकर एक साथ चल सकते हैं और यही जैनधर्म की आदर्श शिक्षा है ।

सामान्य रूप से भी छुआछूत की नजर से हो या किसी अन्य कारण से मानव, मानव से घृणा करे—यह योग्य नहीं, न्यायपूर्ण नहीं, बल्कि मानवता के लिये कलंक है । मोक्षमार्ग को प्राप्त करना है तो ऐसे कलंक के सभी धब्बों को धोकर सद्गुणों को विकसित करने में अग्रसर होना पड़ेगा । जो जीवन में गुणों के विकास पर नित्य सतर्क दृष्टि रखते हैं उनके जीवन का नक्शा कुछ दूसरा ही होता है । अन्तर् की चेतनाशक्ति को विकास के मार्ग पर अग्रसर करने का अभ्यास यदि प्रारम्भ से ही किया जाता रहे तो लंबी मंजिल

भी थोड़े वक्त में तय की जा सकती है और आप भी भगवान श्री अजितनाथ की तरह पूर्ण पुरुष बन सकें। शक्ति संचित करके सम्यक्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र के मोक्षमार्ग पर चलने में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

[मन्दसौर, दिनांक ३१-७-६१]

एक दृष्टि—

आत्मज्ञान और विज्ञान

पंथड़ो निहालू रे बीजा जिनतणों रे
अजित अजित गुणधाम ।
जे ते जीत्या रे ते मुझ जीतियो रे
पुरुष किस्यू मुझ नाम ।
वस्तु विचारे दिव्य नयण तणो रे
विरह पड्यौ निरधार ।
तरतम जोगे रे तरतम वासना रे
वासित बोल आधार ।...पंथड़ो.
काल लब्धि लई पंथ निहालशूं रे
ए आशा अवलंब ।
ए जन जीवे रे जिन जी जाणजो रे
आनन्दघन मत अंब ।...पंथड़ो.

परमात्मा श्री अजितनाथ जी की प्रार्थना की पंक्तियां बड़ी गूढ़ हैं, इसलिये इन पंक्तियों की स्थिति अपनी जिह्वा तक ही नहीं रखनी है, बल्कि इन्हें जीवन में उतारने की स्थिति बनानी है । पंक्तियां तो बाह्य रूप हैं किन्तु इनमें

जो आत्मोद्धारक भाव भरा हुआ है उस तरफ यदि चित्त की लौ लग जाय तो भगवान् के श्री चरणों में पहुंच जाने का प्रसंग बन सकता है। कहावत है श्रेष्ठ कार्यों में सदा विघ्न आया करते हैं और यह तो पचम काल—कलियुग है, इस कारण पग-पग पर कठिनाइयाँ आना स्वाभाविक हैं, किन्तु शौर्य की परीक्षा ही वहां होती है जहां कठिनाई पर कठिनाई आवे और विजय भी वही है जहां कठिनाइयों से सफल संघर्ष करते हुए लक्ष्य को प्राप्त कर लिया जाय।

इस पंचम काल में भौतिक विज्ञान की भारी उन्नति हुई मानी जाती है और उसके परिप्रेक्ष्य में कहा जाता है कि आध्यात्मिकता याने आत्मज्ञान की क्षति हो रही है। किन्तु मेरा मत यह है कि तथाकथित विज्ञान की प्रगति अभी तक भी आत्मज्ञान के बिन्दु से इतनी पीछे है कि जो कुछ आत्मज्ञान के द्वारा युगों पूर्व देखा और जाना गया है, उसके प्रयोग तक आधुनिक विज्ञान को पहुंचने में अभी भी कई युग और लगेंगे। इस कलियुग की स्थिति में भी आत्मज्ञान की कमी नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि योग्य साधक आत्मज्ञान की साधना करें और उसके आधार पर नवीन सत्यों का भी अनुसंधान करें।

प्रार्थना में इसी आवश्यकता पर बल दिया गया है कि—

वस्तु विचारे रे दिव्य नयनतणों रे
विरह पड़यो निरधार।

वस्तु को विचार करना दो तरह से होता है। एक तो पुस्तक आदि में अंकित वचनों को पढ़कर उनके जरिये वस्तु के ऊपरी स्वभाव को जानने की कोशिश की जाय।

दूसरे, वस्तु के स्वभाव पर विचार दिव्य नयनों याने आत्म-ज्ञान की गूढ़ दृष्टि से किया जाय। प्रायः वस्तु के बाह्य रूपों पर विचार तो संसार में चलता ही रहता है, परन्तु प्रत्येक मनुष्य आन्तरिक स्थिति पर भी विचार करे कि आत्मिक विकास की दृष्टि से श्रेयमार्ग कौन-सा है? क्या-क्या हेय है? हेयत्त्व क्या है तथा उपादेय किन-किन वस्तुओं को मान-ना? कौनसा मार्ग हितकारी है और कौन-सा आत्मा का अहित करता है? सामान्य रूप से ऐसे विचार न्यूनाधिक रूप में प्रत्येक आत्मा के अन्तर् में चला भी करते हैं, किन्तु जागृति का जितना अंश विद्यमान होता है उसके अनुसार आत्माओं में यह विचार बल पकड़ता है तथा उसे हितकारी मार्ग की ओर गतिशील बनाता है।

आत्मा चेतना का ही दूसरा नाम होता है, अतः आत्मा का मूल स्वभाव विचार करना—चिन्तन करना होता है। जड़ और चेतन का मुख्य भेद ही चिन्तनशीलता है। जहां चिन्तन की घड़ियां सदा नियमित रूप से चला करती हैं, वहां बराबर चेतना का आभास होता रहता है। जड़ जड़ होता है और उसमें चिन्तन की शक्ति का ही सर्वथा अभाव होता है। किन्तु जिन आत्माओं की चिन्तन की घड़ियां रुक जाती हैं और जो वैचरिकता से स्खलित हो जाती हैं, समझना चाहिये कि उनकी चेतना इतनी शिथिल हो गई है कि वह लुप्त-सी दिखाई देता है। वास्तविक स्थिति में तो एक क्षण के लिये भी आत्मा बिना चिन्तन के नहीं रहती है। हाँ, वह अलग बात है कि विभिन्न आत्माओं में विचारों की विभिन्न श्रेणियां वर्तमान हों। एक व्यक्ति इतने प्रवुद्ध मन वाला हो सकता है कि वह कठिन स्थिति को भी सहज ही में समझ लेता है तो दूसरा आसान-

स्थिति को भी बड़ी कठिनाई से समझ पाता है। एक का द्रव्यमन वैचारिकता में आगे बढ़ा हुआ दीखता है तो दूसरे के द्रव्यमन की गतिविधि कुछ भी दिखाई नहीं देती, फिर भी उसकी आत्मा अन्तर् की ज्ञान शक्ति रूप चिन्तन के साथ अवश्य रहती है ऐसे व्यक्ति का जिस का अचेतन मन तो काम करता ही है किन्तु प्रत्यक्ष रूप से जो बुद्धिहीन-सा लगता है उसके लिये ही कहा जाता है कि उसकी चेतना अकर्मण्य-सी है। किन्तु यह सत्य है कि प्रत्येक आत्मा चेतनाशील होती अवश्य है। कहीं न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में उसका चिन्तन रहता अवश्य है, एक क्षण के लिये भी वह रुकता नहीं।

तो चिन्तनशील होना आत्मा का मूल धर्म है। अपने धर्म को खोकर किसी का भी अस्तित्व रहता नहीं है। त्रस जीवों को तो छोड़ दीजिये किन्तु स्थावर जीवों की आत्माओं में भी चिन्तनशीलता विद्यमान रहती है। वनस्पति जो कि एक स्थिर अवस्था में दिखाई देती है। हवा के झोंकों में हिलती है तो यह हिलना तो उसके शरीर का रूपक है। उस वनस्पति के अन्दर आत्म-स्वरूप से रहने वाले चिन्तन का वहां भी प्रसंग चलता है अर्थात् वनस्पति भी आत्म-अध्यवसाय रूप चिन्तनशील होती है।

मनुष्य जैसे विचार करता है, उसी तरह वनस्पति की आत्मा में भी विचार चलता है, चाहे वह कितना ही अव्यक्त क्यों न हो? वनस्पति भी अपनी अध्यवसाय रूप विचार-शक्ति के सहारे अपना आहार जुटाने का प्रयास करती है, इस संज्ञा के साथ कि अमुक आहार उसके लिये ग्राह्य है या नहीं अथवा कितनी मात्रा में कौन-सा आहार ग्रहण

किया जाय । वनस्पति भी उसको मिलने वाले सारे पदार्थों को ग्रहण नही करेगी, बल्कि उतने ही आवश्यक पदार्थों को ग्रहण करेगी जो उसके लिये जरूरी हों । एक दृष्टान्त से इसे समझिये—दो पौधे पास-पास में लगे हुए हैं। एक गन्ने का पौधा है तो दूसरा अफीम का। यद्यपि दोनों पौधे पास-पास में हैं लेकिन दोनों की रस ग्रहण-पद्धति अलग-अलग होगी । इसके साथ ही रस-ग्रहण की परिणति भी अलग-अलग होगी। खेत में मिट्टी–पानी–खाद डाला जाता है उसमें से दोनों पौधे अपने-अपने योग्य ग्रहण करते हैं और उसकी परिणति यह होती है कि एक तो मिठास पुंज बन जाता है तो दूसरा कड़वाहट से भरा हुआ पदार्थ । इसका अर्थ है कि गन्ने की आत्मा मिठास ग्रहण करती है तो अफीम की आत्मा कड़वाहट को । ग्रहण करने में हिताहित का जो यह ज्ञान है वह आत्मा की चिन्तनशीलता का ही परिणाम होता है ।

आचारांग सूत्र में वनस्पति का वर्णन आया है, उसमें छः काया के आहार का कथन है । छः काया के जीव होते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस याने चलते-फिरते जीव। कोई-कोई वनस्पति मांसभक्षी भी होती है । ऐसे वृक्ष की आकृति मनोरम होती है । उसकी वजह से प्राणी उसके पास चले जाते हैं तब उस वृक्ष की टहनियां नीचे झुककर उस प्राणी को दबोच लेती हैं और भींच कर खून चूस लेती हैं । बाद में टहनियां उस शव को उठाकर दूर भी फैंक देती हैं। इसका वर्णन शास्त्र में है, जिससे स्पष्ट होता है कि वनस्पति की आत्मा में भी इतनी व्यक्त चिन्तनशीलता पाई जाती है ।

७६–ताप और तप

आत्मा की चिन्तनशीलता की ऊँचाइयां और गहराइयां इतनी असीम होती हैं कि–"जिन खोजा, तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ"। आज हमें इसके लिये दर्शन शास्त्र पर ही एक नजर दौड़ा देनी काफी होगी। आत्मा, मोक्ष एवं संसार के स्वरूप पर जितना गहरा चिन्तन करके जिन नवीन तत्त्वों का निरूपण अब तक किया गया है उनकी आज गहराई को मापने के लिये भी हमें अनुसन्धान के कई चरण पूरे करने पड़ेंगे। ऐसी स्थिति में यह कहा जाना कहां तक ठीक होगा कि जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतर गया वह ठीक, अन्यथा उसकी प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता है? इसमें सन्देह नहीं कि आज का युग विज्ञान और तकनीक का युग कहलाता है तथा विभिन्न भौतिक क्षेत्रों में विज्ञान ने काफी प्रगति की है। नई–नई खोजों के फलस्वरूप एक ओर विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों में समीपता बढ़ी है तो दूसरी ओर लोगों की भौतिक सुख सुविधाओं में भी भारी बढ़ोतरी हुई है।

आत्मा का आधार चिन्तन है तो विज्ञान का आधार प्रयोग। प्रयोग एक भौतिक प्रक्रिया होती है जबकि चिन्तन अन्तःप्रेरणा से प्रस्फुटित होता है। चिन्तन मूल है तो प्रयोग उसकी शाखा, क्योंकि दोनों का सम्बन्ध आत्मिक शक्ति से है। किन्तु अन्तर यह आता है कि आध्यात्मिकता की ओर विकास करना आत्मा का प्रधान धर्म माना गया है तो कोरे विज्ञानवादी भौतिक प्रगति को ही अपना लक्ष्य मानते हैं, अतः उनके चिन्तन में वह सूक्ष्मता नहीं आ सकती जो एक आत्मवादी के चिन्तन में प्रकट होती है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो लोग

विज्ञान को ही प्रामाणिकता की एकमात्र कसौटी मानकर चलना चाहते हैं, उनकी धारणा स्वयं प्रामाणिक नहीं है। इसका कारण है कि एकाकी रूप में विज्ञान स्वयं अधूरा है। विज्ञान में प्रयोग चलते रहते हैं, सत्यांश उन्हें मिलता रहता होगा किन्तु एक वैज्ञानिक कभी पूर्ण सत्य का पता नहीं पा सकता है जबकि एक चिन्तक अपनी साधना के बल पर पूर्ण सत्य की खोज सफलतापूर्वक कर लेता है। विज्ञान की खोज कभी पूरी नहीं होती और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उस खोज का दायरा जब भौतिक क्षेत्र में ही पूरा नहीं बैठता तो वह सर्वत्र पूर्णता भला प्राप्त भी कैसे करेगा ?

मेरे भाई कभी-कभी प्रश्न करते हैं— वैज्ञानिकों ने अमुक चीज बना दी, अब उसके आगे कोई चीज है ही नहीं। परन्तु आपको खयाल रखना चाहिये कि इस विज्ञान में जितने विषय आते हैं, वे बहुत थोड़े हैं, पर शास्त्रों के विषय विशाल और व्यापक होने के साथ-साथ पूर्ण और अन्तिम सत्य का दिग्दर्शन कराने वाले होते हैं। वे इतने गूढ़ भी होते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उन्हें बिना गहन चिन्तन के आसानी से समझ नहीं सकता है। जिस वनस्पति के बारे में मैंने ऊपर जो वर्णन दिया है, वह शास्त्रोक है। उस पर वैज्ञानिकों ने भी खोज करने की कोशिश की किन्तु वे उसके मूल में नहीं पहुंच सके हैं।

मैं एक बार (सन् १९५२ के करीब) जब सब्जीमंडी, दिल्ली में था तो एक भाई ने मुझे धर्मयुग पत्र दिखाया था, जिसमें एक वैज्ञानिक ने ऐसी ही एक वनस्पति के सम्बन्ध में निज के अनुभव वाला एक लेख लिखा था। लेख यह था कि वह वैज्ञानिक जंगलों में घूमने का शौकीन था तो

दो आदिमवासियों को साथ लेकर वह एक घने जंगल में गया। वहां उन आदिमवासियों ने उसे दूर से एक वृक्ष दिखाया और पास में जाने से मना किया। उस वृक्ष की टहनियां करीब ४२ फीट तक लम्बी थीं। वह बड़ा सुन्दर था किन्तु आदिमवासियों ने वैज्ञानिक को बताया कि यह मांसभक्षी वृक्ष है। उसी समय उनके देखते-देखते एक मृग भागा-भागा उधर आया और उस वृक्ष की टहनियों ने आगे बढ़कर उसे जकड़ लिया। उसे जकड़ कर टहनियों ने उसे बीच के गुच्छ में फेंक दिया, जहां से थोड़ी देर बाद उस मृग की कोरी हड्डियां बाहर गिरती नजर आईं।

यह सब देखकर वैज्ञानिक की जिज्ञासा अति अधिक उग्र हो उठी कि वह उस गुच्छ के रहस्य का पता लगावे। उसने आदिमवासियों को धन का लोभ देकर प्रेरित किया कि वे कुछ ऐसा उपाय करें कि वह गुच्छ फिर बाहर निकले। उन्होंने एक बन्दर को उस वृक्ष की सीमा में भगाया कि टहनियों ने फिर उसे पकड़ा और उसे बाहर निकले गुच्छ में फेंकने लगी। तभी वैज्ञानिक यह सोचकर भागा कि इस समय वह उस गुच्छ को काट ले ताकि उसका रहस्य उस पर प्रकट हो जाय। वृक्ष के निकट पहुंचते ही एक टहनी ने उसे ऐसा झटका मारा कि वह सज्ञाहीन-सा होने लगा। यदि आदिमवासी उसे तरकीब से वहां से उठा नहीं लेते तो मृग और बन्दर जैसी दशा उस वैज्ञानिक की भी हो जाती।

कहने का अभिप्राय यह है कि शास्त्र में जिस मांसभक्षी वनस्पति का वर्णन आया है, उसकी पुष्टि इस वैज्ञानिक के लेख से हो जाती है। किन्तु जिस रहस्य का पता शास्त्रकारों ने युगों पूर्व पा लिया था उसे एक वैज्ञानिक

आज भी पाने में असफल रहा । इसलिये यह खयाल रखने की बात है कि आत्मा का चिन्तन बहुत ही गहरा और दूरदर्शी होता है। यह भी आत्मा का चिन्तन ही है जो आपके सामने आ रहा है । हर चेतना में वह शक्ति विद्यमान है जो गहरा तथा ऊँचा चिन्तन करके नये-नये तत्त्वों को खोज कर डाले । अब तक जो गहन चिन्तन अपनी चेतना की ऊँची श्रेणियों में पहुंचकर मानव ने किया है उसी का तो निचोड़ शास्त्रों में निहित है । शास्त्रों के जो गूढ़ विषय हैं उनके विषय में गहरे उतरना इस विज्ञान के वश की बात नहीं है । वह किसी दूरवीक्षण यन्त्र से देखने का विषय नहीं, बल्कि उन्हें ज्ञान और अनुभव से भरे दिव्य चक्षुओं से पढ़ा और समझा जा सकता है । अन्तर् के आत्मप्रदेशों में जितनी अधिक निर्मलता आवेगी, उतना ही चिन्तन का क्रम अधिक गहरा बनता जायगा ।

चिन्तन जितना गम्भीर होगा, मानस की उर्वरता उतनी ही बढ़ेगी और ज्ञान का प्रकाश अधिक-से-अधिक फैलता जायगा । यह ज्ञान सिर्फ भौतिक नहीं, बल्कि अन्तरात्मा से फूटा हुआ निर्मल और शुद्ध ज्ञान जिसके प्रकाश में न सिर्फ चराचर जगत् के अन्तर्रहस्य प्रकट होते हैं बल्कि जीवन में मुक्ति के विविध मार्ग भी प्रकाशित होते हैं। ऐसे ज्ञान का विकास ही मनुष्य को अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, जिसके द्वारा वह बाह्य और आभ्यन्तर की सम्पूर्ण स्थितियों को हस्तामलकवत् देखने लगता है । यह ज्ञान ही आत्मा को सर्वांशतः निर्मल प्रकाशमान् बनाता हुआ जब अपनी चरम अवस्था पर पहुंचता है तो उसे केवलज्ञान कहा जाता है । केवलज्ञानी ही परमात्मा के सत्य स्वरूप को सूक्ष्म रूप

से देख सकते हैं, क्योंकि वे स्वयं उस दिव्यता को पा चुके होते हैं। क्या आप सोच सकते हैं कि आत्मिक-स्वरूप के इस विकास का मापतोल करना दूर रहा परन्तु उसके स्वरूप को कोई वैज्ञानिक पहिचान भी सकता है ?

भौतिक-विज्ञान स्थूलज्ञान होता है । यह सही है कि इसकी सहायता से मनुष्यों के लिये बाह्य सुख के साधन प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु इसके साथ क्या यह सही नहीं है कि इसी विज्ञान की प्रगति ने संसार के सामने अणुबम आदि के रूप में महाविनाशकारी साधन भी तो प्रस्तुत किये हैं। विज्ञान ऐसा है जिसका सदुपयोग करे तो ठीक वरना दुरु-पयोग तो किया ही जा सकता है । एक उस्तरा होता है, जिससे हजामत की जा सकती हैं किन्तु यदि वह किसी बन्दर के हाथ लग जाय तो उससे वह किसी की नाक भी काट सकता है। आत्मज्ञान से हीन मनुष्य की अवस्था बन्दर से कम नहीं होती और आज विज्ञान की प्रगति का जिस कदर दुरुपयोग किया जा रहा है, उस से संसार के अस्तित्व तक के सामने क्या प्रश्नचिह्न नहीं लगा हुआ है ?

आत्मज्ञान के साथ ऐसा कोई संकट नहीं होता, न कभी किसी प्रकार का संकट उपस्थित भी हो सकता है। आत्मज्ञान जब जागरूक होता है तब समझना चाहिये कि जो चेतना सुषुप्त थी वह सक्रिय हो उठी है । जब ज्ञान अभिवृद्ध हो, चेतना प्रबुद्ध बने तथा जागरण गतिशील हो तो निश्चय ही मनुष्य की वृत्तियां पवित्र और लोकोपकारक बनती जायेंगी । जहां विज्ञान की शक्ति मनुष्य को बर्बर भी बना सकती है, वहां आत्मिक शक्ति की प्रबलता उसे सिर्फ सन्त ही बनाती है ।

आत्मज्ञानी की दृष्टि सूक्ष्म होती है और वह एक बार जो अपने चिन्तन का निचोड़ जगत् को दे जाता है, वह युगों तक प्रगति के आकाँक्षियों का पथ प्रदर्शित करता रहता है। आज के समय में वीतराग प्रभु नहीं रहे, केवल-ज्ञानी नहीं रहे, मनःपर्यय-ज्ञानी और अवधिज्ञानी भी नहीं रहे, फिर भी मननशील क्रिया के योगों को निर्मल बनाया जा सकता है, क्योंकि शास्त्रों के रूप में जो वे अपनी विचार-थाती छोड़ गये हैं, वह इतनी सचेतक है कि किसी को कहीं भी मार्गच्युत होने की कोई आशंका नहीं रहती। इसलिये चिन्तन के आधार पर जितना-जितना मन निर्मल बनता जायगा, उतना-उतना ही वह शास्त्रों के नियमों को समझता हुआ ईश्वरतत्व-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होता जायगा।

इस पंचम आरे (समय चक्र) में भी जिनका हृदय पवित्रता में डूबा हुआ है और जो प्राणिमात्र के साथ वात्सल्यभाव रखते हैं— ऐसे पंच-महाव्रतों का पालन करते हुए श्रमण के रूप में लोक-कल्याण में प्रवृत्ति करते हैं। ऐसे श्रमणों के सामीप्य से शास्त्रों के वचन श्रवण करने को मिल जाते हैं। आत्मज्ञानियों के इन वचनों में श्रद्धा प्रतिस्थापित करके जो उनका अनुकरण करता है, वह न सिर्फ अपने ही कल्याण का मार्ग खोज निकालता है बल्कि अपने चिन्तन के आधार पर नवीन तत्त्वों की खोज भी करता है और संसार को भी उन्नति का मार्ग दिखाता है।

वीतराग के वचनों के प्रभाव के सम्बन्ध में शास्त्र में कहा गया है—

> तहा रूवस्स समणस्स महाणस्स वा,
> अंतिए एगमवि आपरियं धम्मियं सुवयणं।

सोच्चा णिसम्म तओ भवई संवेग जाय,
सड्ढे तिव्व धम्माणुरागरत्ते ॥

तथारूप के श्रमण अर्थात् – पंचमहाव्रत का पालन करते हुए आत्म स्वरूप की उपलब्धि में स्थित सन्तजन ही शास्त्रों के अन्तर्रहस्यों को भलीभांति समझ सकते हैं और ऐसे कर्मनिष्ठ श्रमण से वीतराग-वाणी का एक भी सन्देश जो सुन लेता है और गुन लेता है तथा उसमें अपनी श्रद्धा उत्पन्न कर लेता है तो वह एक सन्देश भी उसके लिये आत्मोद्धारक बन सकता है। श्रद्धा के व्यक्तिकरण के साथ उसका हृदय तीव्र धर्म-राग में अनुरक्त हो जाता है। शास्त्रों में श्रावकों के लिये यह विशेषण आया है—

" तिव्व धम्मपेमाणु रागरत्ते । "

अर्थात् सच्चा श्रावक वह जिसका हृदय तीव्र धर्म के प्रेमराग से ओतप्रोत हो। वह धर्म का रंग उनकी आत्मा में तो सर्वव्यापक होता ही था किन्तु शरीर में भी कहां तक भिदा हुआ रहता था इसके सम्बन्ध में भी शास्त्रों में बताया गया है कि वह धर्म का रंग उनकी चमड़ी और मांसपेशियों तक ही नहीं था बल्कि उनकी हड्डी और मज्जा तक में पैठा हुआ था। हड्डी और मज्जा शारीरिक धातुओं की अन्तिम उपलब्धियों के रूप में होती है। तात्पर्य यह है कि धर्मप्रेम का वह प्रशस्त रग उस शरीर में रहने वाली आत्मा के प्रदेशों में इतनी तीव्रता से परिपूरित होता कि शरीर की धातुओं पर भी उनका अमिट प्रभाव बन जाता। ऐसा व्यक्ति अपने आत्मधर्म से कभी भी विचलित नहीं हो सकता है।

जैसे भगवान् महावीर के समय में तथा उससे पूर्व

अरणक व कामदेव आदि श्रावक कठोर-से-कठोर परिषह आने पर भी कभी वीतराग-वाणी से विचलित नहीं हुए। वैसी ही योग्यता आज भी प्राप्त की जा सकती है किन्तु उसके लिये उतना कठिन सकल्प एवं पराक्रमशील स्वभाव होना चाहिये ताकि क्रमिक विकास की श्रेणियों को पार करते हुए उस सीढ़ी तक पहुंचा जा सके। इसके लिये उस प्रकार के संस्कारों की भी आवश्यकता होती है। ये संस्कार बच्चे को सबसे पहले अपनी माता से प्राप्त होते हैं। इन संस्कारों का प्रभाव गर्भावस्था से प्रारम्भ होता है और जन्म के बाद बचपन तक बच्चा सबसे अधिक अपनी माता से ही ग्रहण करता है। इन अवस्थाओं में ग्रहण किये गये संस्कार मनुष्य के पूरे जीवन में न्यूनाधिक रूप से बने रहते हैं। उदाहरण के तौर पर भय के संस्कार को लिया जा सकता है। भय जो बच्चे के मन में बचपन से जम जाता है तो बाद में निर्भय स्थान में रहने पर भी जरा से भय का निमित्त पाकर वह भयाक्रान्त हो उठता है।

बाल्यावस्था तक इस प्रकार जो भी संस्कार जम जाते हैं, वे मृत्युपर्यन्त तक साथ में चलते हैं। इसी कारण माता के प्रभाव व बचपन की ग्रहणशीलता को मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत ज्यादा महत्व दिया गया है। एक ओर जहां भय का संस्कार बच्चे पर गिरता है, वहां ऐसी विरली ही सही परन्तु माताएँ जरूर मिलेगी जो बच्चे पर इस प्रकार के संस्कार भी डालती हैं कि उन्हें कुछ भी भय नहीं होता। वैसे बच्चे बड़े होने पर भयंकर से भयंकर परिस्थिति में भी कतई भयभीत नहीं होते।

अभिप्राय यह है कि बचपन के ही संस्कार तरुणाई

में आते हैं अतः ये संस्कार आत्मज्ञान से भरे हुए निर्मल हुए तो वह यौवन त्याग और संयम का जीवन्त प्रमाण बन जाता है। वैसे व्यक्ति को यदि वीतराग वाणी का योग मिल जाय तो सोने में सुहागा हो जाता है, कारण कि जब वह श्रद्धा और कर्मठता के साथ वीतराग वाणी के आश्रय से आगे बढ़ता है तो वह आश्रव की स्थिति में से निकलकर संवर की स्थिति में प्रवेश करता जाता है। आत्मज्ञान एवं आचरण की शुद्धता के साथ वह नये पापकर्म नहीं करता है तो उसके स्थान पर सत्कार्य में भी अपने आपको नियोजित करता है। जो आश्रव में होते हैं, वे संवर में जाते रहते हैं और जो संवर में होते हैं वे आश्रव में जाते रहते हैं—यह स्वाभाविक है क्योंकि प्राथमिक अवस्था में मन के विचारों का उतार-चढ़ाव चलता रहता है, किन्तु यदि बाल्यावस्था के संस्कार शुद्ध और प्रगतिशील हुए तो यह चंचलता मिट जाती है तथा धीरे-धीरे शुद्धाचरण की स्थिरता बढ़ती जाती है। शास्त्रों में कहा है—' जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा, ते आसवा।" विचारों के उत्थान-पतन का यह सारा क्रम संस्कार निर्माण के आधार पर बनता, बदलता रहता है।

संस्कार-निर्माण का कार्य विज्ञान के द्वारा सम्भव नहीं है। जैसा कि कहा जा रहा है कि कांच की नली में बच्चा पैदा कर दिया जायगा या कि मनुष्यों के मस्तिष्कों की रचना वैज्ञानिक प्रक्रिया के जरिये विशिष्ट प्रकार की बनाई जा सकेगी। किन्तु यह निश्चित है कि जितने मानवीय सद्गुण हैं उनके विकास एवं प्रसार के लिये विज्ञान कुछ नहीं कर सकेगा। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और

उसे किस सहृदयता से समाज में रहना चाहिये और समाज का कैसा स्वस्थ निर्माण उसे करना चाहिये—इसका दिशा-निर्देश केवल आत्मज्ञान ही दे सकता है। विज्ञान जहां स्थूल अंशों को छूता है, वहां आत्मज्ञान जीवन के सूक्ष्मतम रेशों तक में प्रवेश करके जीवन के आदर्शों की रचना करता है।

विज्ञान मशीनें बना सकता है, मनुष्य नहीं। आत्मज्ञान मनुष्य बनाता है, मनुष्यता के संस्कारों का निर्माण करता है एवं उसे उसके चरम विकास तक पहुंचाता है। अब जो लोग विज्ञान को सर्वाधिक श्रेष्ठ एवं प्रामाणिक समझते हैं, उन्हें यह महसूस करना चाहिये कि विज्ञान जीवन के लिये हितकारी हो सकता है,वह भी जीवन के बाह्य स्वरूप के लिये, किन्तु वह स्वयं जीवन का दर्शन या जीवन का आदर्श कभी नहीं बन सकता। इसके विपरीत आत्मज्ञान स्वयं जीवन है—जीवन का मूल तथा जीवन का लक्ष्य है। आत्मज्ञान से विज्ञान की श्रेष्ठता तो दूर रही, हकीकत में दोनों की परस्पर तुलना की भी कोई स्थिति नहीं है। विज्ञान आत्मज्ञान की श्रेष्ठता के सहस्रांश पर भी कई शताब्दियों बाद पहुंच सकेगा यह कल्पना मात्र है।

स्वयं विज्ञान है भी क्या ? विज्ञान नई-नई मशीनें बना लेता है, नये-नये आविष्कार कर लेता है किन्तु क्या विज्ञान सिर्फ मशीनों की सहायता से नई मशीनें बना सकता है ? क्या इसमें आत्मज्ञान के धारक एवं चिन्तक मनुष्य के सहयोग की कतई अपेक्षा नहीं रहती ? नये संगणक (कम्प्यूटर्स) बनाये जा रहे हैं जो मनुष्य के मस्तिष्क से भी अधिक कुशलता से कार्य कर सकते हैं—ऐसा कहा जाता है, लेकिन उन कम्प्यूटर्स की

रचना क्या स्वतः ही हो गई ? क्या स्वयं कम्प्यूटर्स मनुष्य की रचना नहीं है ? अतः मूल में यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिये कि विज्ञान भी आत्मज्ञान का ही उत्पादन है और आत्मज्ञान के साथ ही विज्ञान हितकारी भी बना रह सकता है। जहां आत्मज्ञान विस्मृत होता है जैसा कि वर्तमान समय में हो रहा है—मनुष्य पशु बन जाता है और वह विज्ञान का भी दुरुपयोग महाविध्वंस के रूप में करने को तैयार हो जाता है।

निर्विवाद रूप से इस कारण यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि आत्मज्ञान ही मानव-जीवन के दर्शन एवं आदर्श के गति-चक्र को स्वस्थ गति देने वाला है और इस दृष्टि से श्रेष्ठ आत्मज्ञान का प्रसार हो एवं मानवीय गुणों का विकास हो—इस ओर सभी का प्रयास सक्रिय रूप से होना चाहिये। आत्मज्ञान जो आध्यात्मिकता की भूमिका है, मनुष्य को पशु बनने से रोकता है तो वह विकसित होकर मनुष्य को मनुष्य तथा मनुष्य को मनुष्य से देवता भी बना देता है।

मूल प्रश्न है नियंत्रण और सन्तुलन का। यदि आध्यात्मिकता भौतिक विज्ञान पर समुचित नियंत्रण रख पाती है तो वह भी विज्ञान के सदुपयोग से अधिक सार्थक बन सकेगी। भौतिकता यदि एक तेज घोड़ा है तो सवारी के लिये जरूरी है मगर उस पर अगर कोई वैसे ही सवारी कर ले तो यह भी सही है कि वह अपना सिर ही फुड़वायगा। किन्तु कोई बुद्धिमान उस घोड़े के एक मजबूत लगाम लगा ले और उस लगाम को मजबूती से अपने बलिष्ठ हाथों में थाम कर वह उस पर सवारी करे तो क्या महीनों का पैदल सफर चन्द

दिनों में ही तय नहीं कर लिया जा सकेगा ? वही सर फोड़ने वाला घोड़ा आफत की बजाय उसके लिये वरदान बन जायगा । भौतिकता पर आध्यात्मिकता के अंकुश की नितान्त आवश्यकता है । बिना अंकुश के भौतिकता उद्दाम हो जाती है और बजाय हित के वह मनुष्य का अहित ही अधिक करती रहती है ।

आत्मज्ञान और विज्ञान को इस परिप्रेक्ष्य में विरोधी मानना समुचित नहीं होगा सन्तुलन एवं समन्वय का सही वातावरण हो तो दोनों को एक दूसरे का सक्षम पूरक बनाया जा सकता है । दोनों पूरक होकर निश्चय ही प्राणी समाज की अधिक सार्थक सेवा भी कर सकते हैं । आत्मज्ञान एवं विज्ञान के सम्मिलित सहयोग के साथ मनुष्य के द्वारा आदर्श बनने की महायात्रा अधिक तीव्रगामी एवं शीघ्र फलदायी बनाई जा सकेगी । कहा है—"जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा" । जो कम में याने विज्ञान में अपना शौर्य दिखा देंगे, निश्चित मानिये कि वे उससे भी अधिक शौर्य धर्म याने आत्मज्ञान के विकास में भी दिखा सकेंगे ।

हम आत्मज्ञान को सर्वश्रेष्ठ मानने वालों में से हैं और इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम अन्तरदृष्टि के धारक बनें । समुद्र में पानी की सतह पर तैर कर जो वापिस आता है, उसे कुछ भी हाथ नहीं लगता । परन्तु जो अपनी जिन्दगी को भी जोखिम में डालकर समुद्र-तल तक गोते लगाता है, उस गोताखोर को मोतियों की प्राप्ति होती है । अपने कठिन साहस एवं अध्यवसाय से वह ऐसे-ऐसे मोती भी प्राप्त कर लेता है जो अमोल होते हैं ।

आत्मज्ञानी का मार्ग आसान नहीं है । वह खांडे की

धार पर चलने जैसा है। सन्तुलन, समत्वय और संयम की श्रेष्ठताओं के साथ जब कोई भगवान् अजितनाथ की हृदय से प्रार्थना करता है और उनके आदर्श पथ पर अग्रसर होता है तो निश्चय ही वह अजित भी बन जाता है आत्मज्ञानी के लिये इस संसार में पग–पग पर कठिनाइयां सामने आती हैं किन्तु वे कठिनाइयां ही आत्मज्ञानी को केवलज्ञानी बनाती हैं। जीवन की परम श्रेष्ठता संकल्प, साहस और सक्रियता में समाई हुई रहती है। जो इस परम श्रेष्ठता का अभिलाषी होता है वह अपनी कर्मठता से इस परम श्रेष्ठता को प्राप्त भी कर लेता है।

[मन्दसौर—दिनांक २–८–६६]

भक्ति भगवान् की—
—सेवा इन्सान की

संभवदेव ते धुर सेवो सवे रे
लही प्रभु सेवन भेद ।
सेवन कारण पहली भूमिका रे
अभय अद्वेष अखेद ।
भय चंचलता हो जो परिणामनी रे
द्वेष अरोचक भाव ।
खेद प्रवृत्ति हो करता थाकीए रे
दोष सबोध लखाव ॥

आज भगवान् संभवनाथ की प्रार्थना की पंक्तियों में कुछ परिवर्तन सामने आया है, किन्तु यह परिवर्तन शब्दों और शब्दों के अर्थ के रूप में ही है, वरना चाहे प्रार्थना की पंक्तियाँ भिन्न-भिन्न हों अथवा प्रार्थना करने की पद्धति भी भिन्न हो, पर भगवान् के वास्तविक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। शब्दों और स्थूल अर्थों की भूमिका से हट कर जब

उस दिव्य स्वरूप के गूढ़ार्थ में प्रवेश किया जाता है और उस स्वरूप को स्पष्ट रूप से देखने का प्रयास किया जाता है तो इन पंक्तियों से निश्चय ही ऐसे संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर जीवन को आदर्शों के पथ पर आगे बढ़ाने के सम्बन्ध में उत्साहप्रद मोड़ दिया जा सकता है। इस प्रार्थना में भी कवि का संकेत है —

"सेवन कारण पहली भूमिका रे, अभय, अद्वेष अखेद"

भगवान् की सेवा या भक्ति जीवन निर्माण की भूमिका है, जिस पर निर्भयता, वीतरागता एवं आनन्दमयता की प्राप्ति होती है। किन्तु भगवान् की सेवा कैसी और उस सेवा का भेद क्या—यह जब तक कोई भी भव्य आत्मा भलीभांति समझ न ले और उसके अनुसार अपनी सेवा या भक्ति को मोड़ न दे तो भगवान् की सच्ची सेवा बन नहीं पड़ेगी। यदि इस सेवा के भेद को समझकर ही उत्थान-पथ पर अग्रसर होने की अभिलाषिनी आत्मा भगवान् की सेवा के लिये तत्पर हो तो उस सेवा के बल पर वह स्वयं भगवान् का पद प्राप्त कर सकती है। भगवान् की सेवा ऐसी विशिष्ट होती है जो सेवक को भगवान् ही बना देती है। अतः इस सेवा के भेद को समझ लेना जरूरी है क्योंकि सेवा-सेवा का हर क्षेत्र में अन्तर पड़ जाता है।

गृहस्थाश्रम में रहने वाला व्यक्ति भी यदि व्यापार प्रारम्भ करना चाहता है तो उसे पहले व्यापार के भेद को भलीभांति समझ लेना पड़ता है। उसे कई प्रश्नों पर पहले निर्णय लेना पड़ता है कि वह कपड़े, किराने या अन्य प्रकार के किस व्यापार में प्रवृत्त हो और जो भी व्यापार करे उसे किस पैमाने तक बढ़ावे एवं स्थानीय आवश्यकता के अनुसार

किन-किन वस्तुओं को संग्रह करने में प्राथमिकता दे। इन सारी स्थितियों पर विचार करके ही वह निर्णय लेता है कि वह कौनसा व्यापार किस तरह करे? यदि विभिन्न व्यापारों के भेदों को समझे बिना ही कोई किसी भी व्यापार को प्रारंभ कर डाले तो उसमें उसको सफलता मिलने की संभावना कम ही रहती है।

व्यापार तो बड़ा काम है, लेकिन बहिनें जो रसोई तैयार करती हैं उसमें भी भेद समझकर काम न करें तो योग्य रसोई भी तैयार नहीं हो सकेगी। जहां रसोई जैसे छोटे से कार्य को करने में भी उसके सही स्वरूप को समझना पड़ता है—उसके भेदों को जानना पड़ता है, तो फिर भगवान् की सेवा जैसे महद् कार्य में कितनी जागरूकता की जरूरत होगी, यह इस कार्य की महानता से ही समझ लेने की बात है। इसके बिना सफलता सम्भव नहीं है।

वैसे तो आज का मानव इतना भौतिकवादी बनता जा रहा है कि सांसारिक सुख-सुविधाओं के लिये दौड़ते रहने में ही वह अपना दुर्लभ जीवन समाप्त कर देता है और शांति से इस सत्य को समझने का समय भी जुटा नहीं पाता है कि जीवन के वास्तविक आदर्श क्या हैं, आत्मा को ऊर्ध्वगामी क्यों बनाना श्रेयस्कर है तथा ऐसा करने के लिये साधना की किन-किन सरणियों में से होकर उसे पार निकलना पड़ेगा। फिर भी ऐसे भद्रिक पुरुषों व स्त्रियों की संख्या भी कम नहीं मिलेगी, जो भक्ति का रस-पान करना चाहते हैं और सेवा-धर्म का पालन भी करना चाहते हैं। इन दोनों श्रेणियों के बीच में ऐसे व्यक्ति भी पाये जाते हैं जो भक्त का नाम धरा कर अपने आपको बाहर से सेवक तो घोषित कर देते हैं लेकिन उस दम्भ के

द्वारा वे अपने सांसारिक स्वार्थ ही पूरे करने की चेष्टा करते रहते हैं। इन तीनों श्रेणियों के लोग भगवान् की सच्ची भक्ति की ओर सच्चे मन से आकर्षित हों – इसके लिये इस भक्ति व सेवा के स्वरूप का स्पष्ट होना अत्यावश्यक है।

अधिकांशतः व्यक्ति यह पूछते नजर आते हैं कि भगवान् की भक्ति कैसी होनी चाहिये ? सेवा किसकी होनी चाहिये ? जब उनको इसके सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलते हैं तो वे अन्धानुकरण में चल पड़ते हैं और अन्धविश्वासपूर्ण जैसा पहले चलता आया है, उसी तरह के क्रियाकलाप वे करने लग जाते हैं। पहले क्या पद्धति चलती आई है—उसके क्या गुण हैं तथा उसके क्या कारण हैं—सही ज्ञान एवं विवेक के अभाव में वे उसकी गहराई में नहीं जाते। इस वृत्ति का परिणाम यह होता है कि वे विवेकशून्य रहकर भक्ति या सेवा की दृष्टि से जो भी काम करते हैं, उनसे उनके जीवन में विकास का प्रसंग नहीं बनता है। ऐसी भक्ति में यह मान कर चलिये कि अगर कोई अपने अनन्त जीवन भी व्यतीत कर दे, तब भी भगवान् उनसे प्रसन्न नहीं हो सकेंगे।

किन्तु मूल बात यह भी समझने की है कि क्या आपकी भक्ति से भगवान् प्रसन्न भी होते हैं ? और यदि आप भक्ति नहीं करें तो क्या वे अप्रसन्न हो जायेंगे ? भगवान् तो सतत अजरामर आनन्द में विराजमान रहते हैं। वे संसार से मुक्त हो चुके हैं और मुक्ति के बाद मुक्तात्मा का इस संसार से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये कोई भी संसारी प्राणी उनके लिये श्रद्धा या सम्मान देता

है अथवा अश्रद्धा करता है, उससे उनका कोई सरोकार नहीं होता। इसलिये अधिकतर भक्तों का यह विश्वास कि भक्ति से भगवान् प्रसन्न होंगे—भ्रमपूर्ण है।

भक्ति का प्रभाव भगवान् पर नहीं गिरा करता है बल्कि सच्ची भक्ति का प्रभाव स्वयं भक्त पर गिरना चाहिये। भगवान् की भक्ति करने में जो उनका गुणगान किया जाता है उससे उनके आदर्श जीवन की झलक भक्त के मन में खिंच जानी चाहिये जिससे एक ओर तो वह आत्म-कल्याण की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा पा सके तो दूसरी ओर लक्ष्य पा सकने की प्रसन्नता में उसे आत्म-शांति का लाभ भी मिल सके। अनादि काल से यह आत्मा संसार के भव-चक्र में परिभ्रमण कर रही है और यदि उसे आन्तरिक शांति का लाभ प्राप्त करना है तो वह भगवान् की भक्ति से अवश्य ही मिल सकेगा।

भगवान् की भक्ति में जितनी अधिक श्रद्धा होगी, आत्मशांति भी उतनी ही गहरी होगी। अब प्रश्न है कि श्रद्धा कैसी हो—बन्द आँखों वाली या खुली आँखों वाली। बन्द आँखों वाली श्रद्धा वह कि हम तो देखते ही नहीं, जैसी चलती आई है, बिना उसका कारण मर्म या फल समझे उसी को चलाते रहें। किन्तु खुली आँखों वाले श्रद्धालु परम्परा की भी परख करते हैं, उसे समझते हैं तथा ग्राह्य अंश को ग्रहण करते हैं। जो भाई सम्यक्ज्ञान की स्थिति को लेकर चलते हैं, वे सच्ची श्रद्धा भी कर सकते हैं।

श्रद्धा का सीधा सादा अर्थ है कि सही स्वरूप को समझें तथा उसे सही समझ कर उस पर विश्वास करें। आत्मा के मूल स्वरूप को समझना, आत्मा से परमात्मा

बनने के गतिक्रम का ज्ञान करना तथा उस यथार्थ ज्ञान पर अमिट विश्वास करना कि यही आत्म-कल्याण का सच्चा मार्ग है और उस विश्वास से विचलित न होना सच्ची श्रद्धा का लक्षण माना जाता है। जो ज्ञान यथार्थ होता है उस यथार्थ ज्ञान के साथ जब प्रवृत्ति भी यथार्थ जब बनती है तो वह सिद्ध–स्वरूप के मार्ग की प्रवृत्ति मानी जानी चाहिये।

सच्ची श्रद्धा तभी कहलायगी जब जिस यथार्थ ज्ञान के प्रति आपका विश्वास है, आपका आचरण भी उसी के अनुकूल हो। जब कार्य की प्रवृत्ति श्रद्धा के विपरीत बनती हो तो उसे शुद्ध श्रद्धा नहीं कह सकते हैं। अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझना है तो भगवान् के आदर्श को याद करना चाहिये जिससे उस तीव्र प्रकाश में अपनी आत्मा के छिपे हुए प्रकाश को खोज सकें। भगवान् के आदर्श को समझ कर जो भक्ति या सेवा में अपने आपको नियोजित करता है, वह अपनी ही सेवा कर रहा है, अपने आपको आदर्श का मार्ग दिखा रहा है। भगवान् का उसमें कुछ भी नहीं है।

मैं आपको भक्ति या सेवा का यही तात्पर्य समझा रहा हूं कि हम अपनी आत्मा की सम्यक्-श्रद्धा के स्वरूप को विकसित करते हुए ऊँचे गुणस्थानों को प्राप्त करें अर्थात् अनुरूप त्याग मार्ग को यथ शक्ति इस जीवन में अपना कर अग्रसर होवें। अशुद्धता से हट कर शुद्धता की ओर बढ़ें। अब जो अपनी तरफ तो देखें नहीं, और भगवान् के मंदिर में झालर घन्टा बजाकर यह महसूमगिरी लें कि वे भगवान् की भक्ति कर रहे हैं तो यह विवेकशून्य कार्य ही होगा। भगवान् की भक्ति और सेवा का अर्थ है अपनी आत्मा की

भक्ति और सेवा । भगवान् की भक्ति में बाहरी सामग्री जुटाना, पूजा करना या भोग लगाना और यह समझना कि इन विधियों से भगवान् प्रसन्न हो जायेंगे— यह सब भ्रान्तिमूलक है ।

कई भोले भक्त यह कल्पना करके चलते हैं कि भगवान् को भोग लगाकर मैं भोजन पाऊँ । मैं कपड़े पहनता हूं तो भगवान् को भी वस्त्र धारण करवाऊँ। मुझे आभूषण पहिनने का शौक है तो भगवान् को भी आभूषण चढ़ाऊँ । मुझे ठंड लगती है तो भगवान् को भी ठंड लगती होगी सो उन्हें रजाई ओढ़ाऊँ । मूर्ति के सन्दर्भ में यह सब करके वे सोचते हैं कि हमने भगवान् की पूरे तौर पर सेवा कर ली है । रात्रि-जागरण और कीतन के रूप को ही वे भक्ति का आधार मान लेते हैं ।

क्या हम मानें कि उन भक्तों ने भगवान् के स्वरूप को समझ लिया है ? क्या भगवान् आपके भोग के भूखे हैं ? क्या वे वस्त्र–भूषण पहिनते और रजाई ओढ़ते हैं ? और यदि इन सारी चीजों की हकीकत में उनको जरूरत पड़ती है तो फिर वे भगवान् ही क्योंकर हुए ? संसारी ही तो रहे। वास्तव में भगवान् तो मुक्त हो चुके हैं, उनकी किसी भी संसारी पदार्थ या सुख के साथ कोई ममता नहीं होती। आसक्ति-भाव से वे परे होते हैं क्योंकि अगर उनमें आसक्ति-भाव है तो उन्हें भगवान् कहना ही असंगत होगा । यह ध्रुव सत्य है कि सांसारिक स्थितियों में मूर्छा रखती हुई आत्मा कभी भी ईश्वरत्व के पद तक पहुंच ही नहीं सकती है ।

अब कोई भक्त यह कहे कि हम सांसारिक पदार्थों से

भगवान् की सेवा नहीं करते हैं, हम तो सिर्फ अपने शरीर से ही उनकी सेवा करते हैं। भगवान् को हम वन्दन-नमस्कार करेंगे, तिक्खुत्तो के पाठ से ही अपनी श्रद्धा उन पर व्यक्त करेंगे तब तो भगवान् की भक्ति बन पड़ेगी। अब यह समझने की बात है कि आप भगवान् को नमस्कार करते हैं तो किस ढंग से ? तिक्खुत्तो अयाहिणं पयाहिणं........ मत्थेण वन्दामि। मैं जब दिल्ली में था तो एक लाला जी आया करते थे। वे न सिर झुकाते, न हाथों को घुमाते— सीधे खड़े-खड़े ही तिक्खुत्तो से वन्दना करते थे। वैसी वन्दना करते समय भी उनके मुख पर ऐसा भाव रहता था जैसे वे वन्दना करके यह आभास ले रहे हों कि वे मुझे खुश कर रहे हैं। तो कई भक्त महाराज को खुश करने के लिये वन्दना करते हैं। क्या आप भी हमें खुश करने के लिये वदना करते हैं ? क्या आप हमें रिश्वत देना चाहते हैं ? भगवान् को भी नमस्कार करके क्या उन्हें रिश्वत देना चाहते हैं ? किसी को खुश करने के लिये कुछ देना चाहिये— यह आपकी इस विचित्र संसार की आदत पड़ गई है।

जो इस धारणा को लेकर चलते हैं, वे भी एक तरह से लकीर पीटते हैं—भगवान् के स्वरूप को नहीं समझते हैं। भगवान् या साधु को वंदना करना है तो उनके लिये नहीं, यह अपने ही लिये करना है। भगवान् को वंदन करने का अर्थ है कि उनके गुणों का वरण किया जाय। यही अर्थ साधु के साथ भी लागू होता है। इसमें भी नम्रता होगी तो गुण प्राप्त हो सकेंगे। अभिमान की स्थिति में किया गया वंदन निरर्थक ही रहेगा। वंदन सन्तों को किया जा रहा है तो सन्तों को खुश करने के लिये नहीं बल्कि इसलिये

करना चाहिये कि सन्त-जीवन की पवित्रता का समादर करते हुए उसे अपने जीवन में उतारने की निष्ठा बनाई जाय । इस विचार से किया गया वंदन ही फलदायी बनता है ।

शास्त्रीय कथानक है कि मगध सम्राट श्रेणिक भगवान् महावीर के समवशरण के अन्दर पहुंचे । उन्होंने भगवान् व अन्य सन्तों को तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वंदन किया । वन्दन करते हुए श्रेणिक सोचने लगे—इन सर्वस्वत्यागी मुनिराजों का कैसा सौभाग्य है कि ये अपनी साधना में लीन प्रभु की सेवा कर रहे हैं, किन्तु मैं प्रभु की विशेष सेवा नहीं कर पाता हूं, अतः इन मुनिराजों का धन्यवाद तो करूं । यह सोचकर श्रेणिक छोटे-से-छोटे मुनि को विधिपूर्वक वन्दन करते हैं और उनकी गुण सराहना करते हैं ।

वन्दन की विधि का उल्लेख किया गया है कि तिक्खुत्तो का पाठ गिनते समय पांचों अंगों—दो घुटनों, दो हाथ और एक सिर—से नमस्कार किया जाय । इन पांच अंगों का रूपक भी पंच-परमेष्टि के साथ जुड़ा हुआ है । इस विधि के साथ वन्दन करने से आत्मा में मृदुता, नम्रता एवं आर्जवता के अनुभाव परिपुष्ट होते हैं ।

राजा श्रेणक मुकुटधारी थे किन्तु वे अपना मुकुट उतार कर वन्दन करते थे । अकिंचन मुनियों की जब सेवा करनी है तो उसमें वैभव का प्रदर्शन क्यों ? सबको वन्दन करके वे प्रभु की सेवा में करबद्ध खड़े हो गये । उस समय उनके मन में आत्मशांति के लाभ का उल्लास व्याप्त हो रहा था । गौतम गणधर ने उस उल्लास को देखा । वे प्रखर बुद्धि रूप प्रतिभा के धनी थे । सबसे पहले भगवान्

ने उन्हें तीन पदों— "उपन्नेवा विगमेवा धुएवा" अर्थात्—उत्पन्न होना, नष्ट होना और स्थिर रहना जिसको तत्वार्थ-सूत्र में "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" कहा गया है—का ज्ञान दिया, जिसे श्रवण करके गौतम गणधर ने १४ पूर्व का ज्ञान अपनी प्रत्युत्पन्न मति से संचित कर लिया। ऐसे परम-ज्ञानी पुरुष ने भी श्रेणिक के उस उल्लास को देखकर भगवान् से प्रश्न किया। यह भी समझने की बात है कि ज्ञान भी विनम्रता से आता है। ज्ञानदाता के समक्ष विधिपूर्वक वन्दन करके पालथी मार कर संकोच से बैठना तब हाथ जोड़ कर प्रश्न करना चाहिये। गौतम स्वामी ने इसी नम्रता से पूछा—भगवन् श्रेणिक राजा के चेहरे पर मुनिजनों की वंदन करने का उल्लास व्याप्त है इस का राजा को कोई फल मिलेगा? वीर प्रभु तो सर्वज्ञ थे, उन्होंने कहा—श्रेणिक ने पूर्व में जो पाप-पुंज संचित किये हैं और वे इतने संचित किये हैं कि वे सातवीं नरक के मेहमान बनते किन्तु वन्दन के इस हार्दिक उल्लास ने इनके लिये एक नहीं, छः नरक पर ताले लगा दिये हैं। केवल एक अवशेष रही है जोकि गाढ़ बन्धन युक्त है। यह उत्तर सुनकर श्रेणिक ने सोचा कि जब वन्दन का इतना महान् फल है तो अब जो कुछ मुनि बाकी बच गये हैं, उन्हें भी वन्दन कर लूं जिससे कि अवशेष एक नरक के बन्धन भी टूट जांय। तब भगवान् ने कहा— राजन् अब काम बनने वाला नहीं है क्योंकि पहले कामनारहित तुम्हारा वन्दन था, अब यह निष्काम वन्दन नहीं होगा।

इस वर्णन से यह समझना है कि भक्ति, सेवा और वन्दन क्यों और किसके लिये करते हैं? इस विचार के साथ अन्तःकरण में अवलोकन करना है तथा सेवा के भेद को

हृदयंगम करना है। भगवान् को ये प्रार्थनाएं की जाती हैं, तप किया जाता है— यह सब क्यों किया जाता है ? क्या भगवान् को खुश करने के लिये या अपनी ही आत्मा की शांति एवं प्रगति के लिये ? इसके लिये शास्त्र का पाठ है—

"नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तीवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थनिज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।"

तू अपने इस लोक की किसी कामना से तपस्या मत कर, परलोक की कामना से मत कर, कीर्ति की कामना से मत कर आदि। सारांश यह है कि निष्काम वृत्ति से तपस्या की जाय जिसका एक मात्र लक्ष्य यह हो कि मेरी अपनी आत्मा में एक विशिष्ट प्रकार की निर्मलता एवं पवित्रता का प्रसार हो सके।

साधारण रूप से और चातुर्मास में विशेष रूप से तपस्या करने की परिपाटी अपनी समाज में है। तपस्या करने में विविध दृष्टिकोण भी भाई-बहिनों के रहते हैं और ऐसे दृष्टिकोण भी रहते होंगे जिन्हें आत्मा के लिये हितकारी नहीं माना जा सकता है। किन्तु तपस्या करने का वास्तविक महत्त्व आत्मा की विशुद्धता में निहित है। कहा है—

"तप बड़ो रे संसार में, जीव उज्ज्वल होय रे
तप बड़ो रे संसार में।"

अब इस उज्ज्वलता लाने के स्थान पर यदि ये तपस्या करने वाले यह सोचें कि भगवान् और साधु लोग खुश होंगे अथवा लोगों में मान-प्रतिष्ठा बढ़ेगी या बाह्य आडम्बर करने का अवसर प्राप्त होगा तो यह तपस्या की मूल भावना

के ही विरुद्ध है तथा वैसी तपस्या आत्मशुद्धि की दृष्टि से कतई साथक नहीं है ।

भगवान् के निर्देश के अनुसार तपस्या आत्म-शांति के सिवाय किसी प्रकार की कामना से नहीं की जानी चाहिये । मेरे कोई–कोई भाई कहते हैं कि अमुक ने धमक तेला किया । यह धमक तेला क्या है ? जैसे कोई बहू अपने सास–श्वसुर से अमुक जेवर या कपड़ों आदि की मांग करे और उस की मांग पूरी नहीं हो तो वह धमक तेला करती है याने कि वह अपने तेले का तब तक पारणा नहीं करती जब तक उसकी मांग को उसके सास–श्वसुर पूरी नहीं कर देते । तो क्या इस धमकाने वाले धमक तेले को तपस्या कहें ? इस लोक की हो या पर-लोक की –किसी भी कामना से किये गये तप के लिये यह निश्चित रूप से मानकर चलिये कि भगवान् का निर्देश नहीं है ।

उपरोक्त शास्त्र पाठ में ही कहा गया है कि तप आत्मशुद्धि के लिये, निर्जरा के लिये और कर्म-मल को धोने के लिये किया जाना चाहिये । धार्मिक दृष्टि से की गई कोई भी क्रिया तब तक सार्थक नहीं मानी जा सकती, जब तक कि उसका लक्ष्य आत्मामूलक न हो । चूंकि कामना का सम्बन्ध संसार से होता है अतः निष्काम वृत्ति उसकी पहली शर्त होनी चाहिये । यदि धार्मिक क्रिया भी किसी सांसारिक उपलब्धि के लिये की जाय तो फिर धर्म भी प्राणी को संसार में ही अधिक आसक्त बनाने वाला माना जाने लगेगा । धर्म का मूल अभिप्राय ही यह है कि वह आत्मा को उद्‌बोधित करता है और इसलिये कि वह इस संसार के कलुष से अपने आपको दूर करे और अपने मैल को धोकर अपने स्वरूप को

अतिशय निर्मल बनावे ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि भगवान् की भक्ति स्वयं भगवान् से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। भक्त को भी उस भक्ति का सांसारिक कामना से कोई सबंध नहीं जोड़ना चाहिये। भगवान् की भक्ति का सीधा सम्बन्ध भक्त की आत्मा से होना चाहिये । एक तरह से भक्त की आत्मा का जो तार भगवान् के आदर्श से जुड़ता है उसी का नाम सच्ची भक्ति है। भक्ति भक्त की आत्मा को निष्ठा एवं श्रद्धापूर्वक भगवान् द्वारा आचरित एवं उपदेशित आदर्श पथ पर प्रतिष्ठित करती है । भक्त जब भी भगवान् की प्रार्थना करता है तो उसमें वह भगवान् के उन गुणों का स्मरण करता है जिनके जरिये से भगवान् अपनी साधारण दशा से ईश्वरत्व तक के सोपान पर पहुंचे ।

जैन-दर्शन गुण पूजा में विश्वास रखता है तथा यह नहीं मानता कि भगवान् हमेशा भगवान् ही थे क्योंकि उन्होंने ही समस्त सृष्टि की रचना की है । साधारण आत्मा ही अपना विकास साध कर परमात्मा बनती है और परमात्मा बनने व मुक्त हो जाने के बाद उसका इस संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है । उस परमात्मा का आदर्श-स्वरूप इस कारण संसारी आत्माओं के लिये प्रेरणा का स्रोत बन जाता है कि यदि वे आत्माएं भी अपने चरम विकास की अभिलाषिणी हों तो वह मार्ग उनके लिये भी आचरणीय बन जाता है । परमात्म-स्थिति की हमारे यहां इसी रूप में श्रद्धा है ।

भगवान् की भक्ति तभी सफल मानी जाय जब उसके कारण आत्मा में आध्यात्मिक प्रगति की आकांक्षा पैदा हो

सके। स्थूल बुद्धि वाला भी किसी गूढ़ सिद्धान्त को वैसी स्थिति में आसानी से समझ जाता है जब उसे किसी उदाहरण की सहायता से उसकी समझाइश कराई जाय। इसलिये भगवान् का एक प्रतीकात्मक महत्व है। प्रतीक रूप में हम भगवान् को देखते हैं याने कि हम उनके कर्म-पथ की ओर निहारते हैं और समझना चाहते हैं कि साधना के किन-किन रूपों द्वारा उन्होंने अपनी आत्मा के कलुष को धोया और परम पद प्राप्त किया? प्रार्थना के द्वारा इस स्थिति का जब हम निरन्तर अवलोकन करने का अभ्यास करते हैं और भक्ति से उस में अपनी श्रद्धा को प्रतिस्थापित करते हैं तो उस प्रकार की उत्कृष्ट भावना का वातावरण अपने अन्तर् में अवश्य बनने लगता है। यही भावना परिपक्व होकर हमें तदनुसार आचरण की ओर प्रेरित करती है।

यह सत्य है कि ज्ञान और आचरण का क्रम साथ-साथ चलता रहता है। सम्यक् ज्ञान सही रास्ते की खोज करता है तो साथ ही आचरण को उस रास्ते पर चलाकर उसे सत्य पर आधारित बनाये रखता है। यह भगवान् की भक्ति से प्राप्त होने वाला सम्यक् ज्ञान अत्यन्त व्यापक होता है जो संसार के विविध क्षेत्रों के जहां एक ओर अन्तर्रहस्यों भरी जानकारी देता है तो दूसरी ओर उन रहस्यों में से आत्मा को निकाल कर उन उपायों की भी जानकारी देता है जिनसे वह आत्मा सम्यक् ज्ञान के साथ सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र की आराधना करती हुई मोक्षमार्ग पर अग्रसर हो सके।

संसार का स्वरूप क्या है, यह आत्मा संसार के जन्म-मरण के चक्र में अनादिकाल से क्यों गोते लगा रही है तथा

इसमे उसके उद्धार होने के क्या–क्या उपाय हैं , यह विषय वहुत ही लम्बा चौड़ा है । किन्तु इसे अभी वर्तमान विषय को समझने की नजर से संक्षेप में यों कह दिया जाय तो सुवोध होगा कि ससार चेतन और जड़ का संगम स्थल है । आत्मा चेतन है और शरीर जड़ है । आत्मा जब तक अपने सम्पूर्ण विकारों को नष्ट करके सर्वांशतः निर्मल और मुक्त नहीं बनती तब तक उसे अपने विकारों की वद्धता के कारण जड़ के साथ बधा रहना पड़ता है । चेतन और जड़ जब तक परस्पर बंधे रहेंगे, उनका कर्म करना जारी रहेगा । इस कर्म करने में दुष्कर्म उन्हें और अधिक जकड़ते रहेंगे और यह जकड़ जितनी अधिक क्लिष्ट होगी, जन्म-मरण का और गति-दुर्गति का चक्र भी उतना ही जटिल बनता जायगा । इस जटिलता से बाहर निकलने की चाह से ही सत्कम की प्रेरणा पैदा होती है ।

तो भगवान् की भक्ति की ओर झुकने के लिये पहला काम है इस जटिलता को समझना कि आत्मा जब तक विषय विकारों से अपने को दूर हटाने और उनके स्थान पर मानवीय सद्गुणों को अपनाने की ओर अधिक-से-अधिक जागरूक नहीं बनेगी तव तक भक्ति की लौ नहीं लगेगी और भगवान् का आदर्श पथ मन और मस्तिष्क को प्रभावित नहीं वना सकेगा । यह जटिलता आत्मा की जितनी ज्यादा अखरने लगेगी इस जटिलता जन्य अनन्त दुःखों का वोध भी उसे होने लगेगा । इस वोध के साथ उसमें एक परम एवं चिर-सुख प्राप्त करने की चाह वढ़ती जायगी ।

सत्, चित् और आनन्द की दिव्यध्वनि इसी चाह से फूटेगी । भगवान् की भक्ति से आत्मा को अपने ही शुद्ध स्वरूप का जहां दर्शन होगा तो उसकी लगन लग जायगी

कि उस निर्मल स्वरूप को वह भी प्राप्त करे । यह चाह आत्मा को सत्कर्मों की ओर अनुप्राणित करेगी । मनुष्य या कोई भी प्राणी इस विश्व के रंगमंच पर एकाकी नहीं होता। अनन्त आत्माएं इस ससार में अनादि काल से भवभ्रमण कर रही हैं । उनका परस्पर जड़ शरीर के सम्मिलन से बराबर संसर्ग होता रहता है। जहाँ परस्पर संसर्ग है—एक आत्मा पति के शरीर में है–दूसरी स्त्री के शरीर में–एक सिंह के शरीर में है तो दूसरी बकरे के शरीर में और इस तरह नाना सम्बन्धों में नाना आत्माएं परस्पर संसर्गगत कर्म करती रहती हैं । जहां कर्म है, उसके फल का होना भी अनिवार्य है । यह कर्म का तांता जब तक बना रहता है, सुफल या कुफल का क्रम भी बराबर चलता रहता है। कुकर्म और कुफल के क्रम से बाहर निकलने की चाह का नाम ही जागृति है और इस जागृति से सत्कर्म करने की प्रवृत्ति पैदा होती है ।

सत्कर्म करने की प्रवृत्ति भगवान् की भक्ति से सहज ही में पनपने लगती है । सत्कर्म क्या ? ऐसा कर्म जो आत्मा को शुद्ध बनावे, संसर्ग को शुद्ध बनावे और संसर्ग में आने वाली आत्माओं को शुद्ध बनावे। इस प्रक्रिया में सफल बनाने वाले गुणों को ही हम मानवीय गुण या सद्‌गुण की संज्ञा देते हैं । एक दुःखी के दुःख को दूर किया, एक रोगी की सुश्रूषा की अथवा एक हत्यारे के हाथों किसी को मरने से बचाया तो इन कार्यों को सत्कर्म क्यों कहा जाता है ? आत्माओं का संसर्ग जब श्रेष्ठता उत्पन्न करे–दुःख से छुटकारा पाने वाला सहयोग के महत्त्व को समझेगा और स्वयं

सेवा में रुचि रखने लगेगा, मारने और मरने वाले के मन में कृतज्ञता और सहानुभूति पैदा होगी तो इन सब सत्कार्यों का शीघ्रगामी और दूरगामी दोनों तरह का प्रभाव होगा। यह सुप्रभाव शृङ्खला की तरह आगे से आगे बढ़ता जायगा तो दुःखों से भी इस संसार में सुख की प्रकाश किरणें चमकने लगेंगी। अंधेरे में हल्की-सी प्रकाश रेखा भी अंधेरे से मुक्ति चाहने वालों के हृदय में आशा पैदा कर देती है। सत्कार्यों की यह प्रकाश-रेखा संसार के साधारण स्तर को बदलने लगती है और कुकर्मों के क्रम को घटाने लगती है।

सत्कार्यों की इस शृङ्खला को इन्सान की सेवा का नाम दिया जा सकता है। कोई भी इन्सानों की जितनी सेवा करेगा, उतनी ही ज्यादा इन्सानियत को उभारेगा और चमकायगा। एक इन्सान हैवानियत से दूर हटकर जितना ज्यादा इन्सान बनेगा, दुनिया भी उतनी ही ज्यादा भले आदमियों के रहने की जगह बनती जायगी और शराफत का दायरा बढ़ता जायगा।

भगवान्, आत्मा और इन्सान को एक त्रिकोण बनाकर देखें तो भक्ति और सेवा का भेद अति स्पष्ट हो जायगा। एक कोण से आत्मा याने कोई भी एक व्यक्ति दूसरे कोण पर भगवान् को देखता है तो उसे उनकी भक्ति में अपने ही विकास मार्ग की झलक दिखाई देनी चाहिये। उस झलक के आधार पर वह तीसरे कोण इस संसार की ओर देखे तो उसे उत्पीड़न से छटपटाते हुए इन्सान दिखाई देने चाहिये। वह भगवान् के कोण को भक्ति से मिलावे तो इन्सान के कोण को सेवा से और उस आचरण युक्त दृष्टि में तीनों कोण मिल कर एका कार हो जायेंगे। इस एकाकार को

प्राप्त कर लेना ही भक्त का भगवान् बन जाना है। इस एकाकार के लक्ष्य से जो सन्देश निकलता है उसे इन शब्दों में संक्षेप में कहा जा सकता है कि—

भक्ति भगवान् की—
सेवा इन्सान की।

निराकार की भक्ति और साकार चैतन्य की सम्यक् सेवा किसी भी आत्मा की प्राण-रेखाएँ बन सकती हैं। यह भक्ति जहाँ भावना का भंडार भरेगी तो इस सेवा से सर्वतोमुखी तपस्या का लाभ भी मिलेगा। यह सेवा द्विप्रभावी होती है। इससे सेवा करने वाले और सेवा पाने वाले—दोनों के उद्धार का द्वार खुल जाता है। भक्ति की तरह इस सेवा में भी निष्काम होने की पहली शर्त लागू रहती है। किसी भी इन्सान की कोई भी सेवा अगर प्रशंसा, पद, प्रतिष्ठा या किसी भी अन्य प्राप्ति के उद्देश्य से की जाती है तो वह निरर्थक है। सेवा भी इसीलिये की जानी चाहिये कि उससे अपनी आत्मा में शुद्धता फैले और दूसरों को कष्टमुक्त करके शांति देने से अपनी आत्मा में भी शांति आवे।

भगवान् की भक्ति को ज्ञान की प्रतीक मान लें तो इन्सान की सेवा आचरण की प्रतीक हो जायगी। यह भक्ति और सेवा जितनी सच्ची और निष्ठा भरी होती जायगी, उतनी ही आत्मा की गति ऊर्ध्वगामी बनती जायगी तथा उसका मूलस्वरूप निखरता हुआ चला जायगा। ऐसे भक्त और सेवक को सदैव शुद्धता का ध्यान बना रहता है क्योंकि वह समझता है कि जहां जरा-सा भी शुद्धता का ध्यान चूके कि संसार के विकारों भरी अशुद्धता फिर से आत्मा को

दबोच कर पतन के रास्ते पर उसे गिरा देगी।

क्या आप शुद्धता को प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध हैं? किसी महान् कार्य के लिये कमर बांध कर निकल पड़ना आसान नहीं है, उसके लिये अड़िग संकल्प की आवश्यकता होती है। यदि भगवान् की भक्ति और इन्सान की सेवा को अपने जीवन के अभिन्न अंग बनाकर कोई चले तो वह भगवान् संभवनाथ की प्रार्थना—सेवन कारण पहेली भूमिका रे······" की सफलता को अवश्य ही संभव बना सकेगा। इस भक्ति और सेवा से प्राप्त शुद्धता उसे निर्भय, वीतराग और आनन्दमय बना देगी।

[मन्दसौर, दिनांक ५–८–६९]

असंभव से संभव की ओर....

संभवदेव ते धुर सेवो सवेरे
लही प्रभु सेवन भेद..........।

हम भगवान् संभवनाथ की प्रार्थना कर रहे हैं। एक ही परमात्मस्वरूप के कई नाम हैं. उनमें से तृतीय तीर्थंकर का नाम भगवान् श्री संभवनाथ है । एक दृष्टि से देखा जाय तो जितने भगवान् हुए हैं उन सबको संभवनाथ के नाम से पुकारा जा सकता है, क्योंकि जो कार्य संसार के अन्दर रहे हुए अन्य प्राणियों से संभव नहीं होता, उसे आत्मा से परमात्मा तक पहुंचने वाले ये महापुरुष सम्भव करके दिखा देते हैं । असंभव को संभव करके दिखा देने वाले संभव के स्वामी को ही संभवनाथ कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जितनी भी सिद्ध आत्माएं हैं, उनका नामकरण संभवनाथ के नाम से किया जा सकता है ।

संभवनाथ कौन बन सकते हैं ? क्या कोई विशिष्ट आत्माएं ही संभव की स्वामिनी बन सकती हैं या सभी भवि आत्माएं उस कोटि तक पहुंच सकती हैं ? असंभव को संभव कर दिखाने की शक्ति भले ही आत्मा में हो किन्तु जो आत्मा पराक्रम फोड़ कर उस अनन्त शक्ति को प्रकट

कर दे और चरम गति के असंभव को संभव स्थिति में परिवर्तित कर दे तो वह आत्मा भी संभवनाथ के उसी दिव्य पद तक पहुंच सकती है।

आत्मा के अन्तस्तल में छिपी हुई— दबी हुई इस भक्ति को प्रकट करने के लिये भी भगवान् की भक्ति और सेवा की जरूरत पड़ेगी। इस भक्ति का उद्रेक भी तभी फूटेगा जब अन्तःकरण में यह आकांक्षा जाग जाय कि अपनी आत्मा पर चढ़ हुए कर्म-मैल को धो डालना है और इसके मूल स्वरूप को निखार कर प्रकाशित कर देना है। सेवा का रहस्य ही यह है कि जिस विषय का जो विशिष्ट ज्ञाता और पथप्रदर्शक हो उस विषय का यदि ज्ञान प्राप्त करना है तो उसकी सेवा में बैठकर, उसके वास्तविक स्वरूप का चिन्तन कर, उस देदीप्यमान स्वरूप के अनुसार अपने स्वरूप को भी चमकाने का संकल्प लेकर उस ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है।

इस महत् कार्य के लिये निष्ठा जितनी अटूट, लगन जितनी तीव्र और कर्मठता जितनी उग्र होगी, असंभव को संभव कर दिखाने का साहस उतना ही अजेय बनता जायगा। इन रहस्यों को खोज निकालने की जिज्ञासा जागनी चाहिये कि मेरा जीवन आज किस रूप में है—इस रूप का श्रेष्ठतम विकास किस स्थिति में संभव है और मैं उस दुर्लभ मानव-जीवन का क्या सदुपयोग कर सकता हूं? यह जिज्ञासा यदि क्रियाशील बनी तो ज्ञान के नये-नये क्षेत्र ढूंढ़ निकालेगी। इस जीवन के रूप में आत्मशक्ति के विकास का जो उत्कृष्ट माध्यम मिला है, उसका सदुपयोग न कर सकने वाला निश्चय ही घोर दुर्भागी कहलायेगा।

जब हृदय में असंभव को संभव कर दिखाने का संकल्प अपनी पूरी दृढ़ता से जम जाय तो यह आवश्यक हो जायगा कि इस कौशल में जो पहले पारंगत हो चुका है वैसे सिद्ध पुरुष की भक्ति और सेवा की जाय, उनके कर्म पथ का सूक्ष्म रीति से अवलोकन किया जाय तथा आत्मा की गति को पूरी आस्था से उस दिशा में तीव्र बना दी जाय। भगवान् की भक्ति और इन्सान की सेवा किस रूप में की जाय—यह कल वताया जा चुका है—उसी विचारणा से इस कौशल को पाने के लिये भगवान् श्री संभवनाथ की प्रार्थना की जा रही है कि जिससे असंभव को संभव बना देने की अपूर्व शक्ति हमारी आत्मा में व्यक्त हो उठे।

भगवान् संभवनाथ सिद्धात्मा हैं और इस शरीर से उनकी सेवा में बैठना संभव नहीं है, परन्तु अपनी आत्मा के अवस्थान से उनके स्वरूप को जरूर हृदयंगम किया जा सकता है। उनका स्वरूप कैसा है? वह सत् चित् और आनन्द रूप है। जैसे सच्चिदानन्द भगवान् हैं वैसा ही स्वरूप मूलतः इस अपनी आत्मा का भी है। दोनों स्वरूपों की जो यह मूल साम्यता है उसकी रोशनी में दोनों के भेद को भी आसानी से समझा जा सकता है। एक स्वच्छ वस्त्र है तो दूसरा वस्त्र मैला। जब यह साफ है कि दोनों मूलतः वस्त्र हैं तो फिर यह समझना कठिन नहीं रहता कि दोनों का भेद स्वच्छता की अपेक्षा से ही है।

सिद्ध की आत्मा और संसारी आत्मा का मूल रूप एक-सा है किन्तु जो कुछ भेद है वह उनके वर्तमान रूप में है। जहां सिद्ध की आत्मा परम निर्मल अवस्था में होती है, वहां संसारी की आत्मा पाप कर्मों के मैल से अपवित्र

बनी हुई होती है । संसार में रहते हुए इस पवित्रता में कमी-वेशी होती रहती है लेकिन पूर्ण निर्मलता का सद्भाव तो सम्पूर्णतया कर्म-मुक्त होने पर ही बन सकता है । इस-लिये संसारी आत्मा जब असंभव को संभव कर दिखाने के कठिन संकल्प के साथ यह सोच कर प्रवृत्ति करे कि जैसा सिद्ध भगवान् का निर्मल स्वरूप है, वैसा ही स्वरूप मेरा भी निखरना चाहिये तो उस दिशा में कमठता से साधना करने पर वह भी मोह, माया आदि विकारों से मुक्त बन सकती है।

प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति भरी हुई है–ठीक उसी तरह जिस तरह एक राई जितने वट वृक्ष के एक छोटे से बीज में मीलों में फैले वट वृक्ष का निर्माण करने की शक्ति भरी हुई है । वह शक्ति छिपी रहती है जब तक कि विशिष्ट प्रयास एवं साधनों द्वारा उसे उद्घाटित न कर ली जाय । उस छोटे से बीज को भी जब उपयुक्त भूमि, उपयुक्त खाद, पानी और उपयुक्त परिश्रम का सयोग मिलेगा तब उसका अंकुर फूट सकेगा। उसके बाद वर्षों की मेहनत और सम्हाल उसे मिलती रहेगी तब कहीं जाकर वह मीलों भूमि में अपना विस्तार कर सकेगा । मीलों में फैले हुए उस वट वृक्ष की विशालता को देखकर शायद यह खयाल ही न जमे कि उसका जन्म एक छोटे से बीज से हुआ होगा ।

वट वृक्ष की वह विशालता एक दिन में नहीं फैल जाती । वर्षों की कर्मठता एवं साधनों के संयोग से ही वह छोटा-सा बीज इतना विस्तार पा जाता है । उसी प्रकार कर्म-मैल से अपवित्र बनी — अंधकार से सनी इस आत्मा के लिये इसे यकायक संभव नहीं माना जा सकता है कि वह परम-ज्योति-रूप प्रकाशित भगवान् की आत्मा के समान

प्रकाशमान हो सकेगी। इसीलिये उसे असंभव स्थिति मान लिया जाता है वरना इस असंभव स्थिति को कठिन स्थिति ही कही जानी चाहिये। आत्मा से परमात्मा बनने की यह कठिन स्थिति भी कठोर साधना, अविरत अध्यवसाय एवं ज्ञान-दर्शन-चारित्राराधना के प्रतिफल स्वरूप हल होकर रहती है।

आज संसारी मनुष्य मोह–माया के विकार से इतना विकृत हो गया है कि उसकी अन्धता से उसे अपनी आत्मा की अमित शक्ति का भी कोई भान नहीं रहा है वह कायर और असहाय की भांति सोचता है कि मैं अकेला क्या कर सकता हूं ? मुझे कोई न कोई तो सहायता देने वाला होना चाहिये। यद्यपि करने की भावना किन्हीं लोगों में तीव्र भी हो सकती है किन्तु साहस का नितान्त अभाव होने से वे अपने जीवन में उल्लेखनीय कुछ भी कर नहीं पाते हैं। उनके मन और मस्तिष्क में यह हीन-भावना घर कर जाती है कि वे अक्षम हैं इस हीन भावना से ग्रस्त होकर वे अपनी अन्तर्तम में छिपी हुई शक्ति को न तो पहिचान पाते हैं और न उसका अनुभव करते हुए उसे उपयोगी ही बना पाते हं। अपने अन्दर नही झांक पाने कारण वे अपने स्वरूप की गहराई को आंक नहीं पाते और इस कारण वे भूल जाते हैं कि उसके भीतर भी कोई शक्ति का स्रोत बह रहा है जो सिर्फ चट्टानों से अवरुद्ध है और ज्योंही चट्टानों को फोड़ने का पराक्रम शुरू कर दिया जाय तो वह शक्ति का स्रोत वर्षा के वेगवाले प्रवाह की तरह बाहर फूट निकलेगा। इस सारे विचार के अभाव में आज के मनुष्य के मन की जो दुर्दशा है वह सामने है कि वह अपनी क्षमता को भूल

बैठा है ।

किन्तु यह न मान कि इस भूल का परिमार्जन हो नहीं हो सकता है ? "जब उठे, तभी सवेरा" वाली कहावत के अनुसार आप जिस समय भी जागृत होते हैं तभी आपके लिये प्रातःकाल हो जायगा याने कि आप अपनी प्रगति-यात्रा आरंभ कर सकते हैं। यह जागृति भी तभी हो सकती है जब आप यह सोच लें कि "बीति ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेहि" । आत्मा का विकारपूर्ण स्थिति की दृष्टि से भूतकाल में जैसा भी हाल रहा हो उस पर अफसोस करने से काम नहीं बननें वाला है, उसे तो भूल ही जाना होगा, किन्तु वह भूलना तब साथक बनेगा जब कि आत्मा को विकास पथ पर ले जाने के लिये आगे कदम बढ़ाने का सुनिश्चय कर लिया गया हो । इस सुनिश्चय की सुदृढ़ता ही सफलता की स्थिति को स्पष्ट कर सकेगी ।

भक्ति और सेवा का विचार एक गम्भीर विचार होता है । इसका लक्ष्य एक-सा है किन्तु उस लक्ष्य तक पहुंचने की विधियां और उसके साधन कई प्रकार के हो सकते हैं। सब से पहली तो आवश्यकता इस बात की होती है कि यदि किसी ने भक्ति और सेवा की आराधना करने का निर्णय लिया है तो उसे उससे सम्बन्धित भूमिका अवश्य ही तैयार करनी पड़ेगी । किसी भी भवन का निर्माण करना हो तो उसकी प्रथम पुष्टि के रूप में भूमि का होना तो अनिवार्य ही है । इस भूमिका की भी योग्य स्थिति बने तो भक्ति व सेवा की गति आगे बढ़ सकती है । इस भूमिका के पहले गुण के रूप में यह मानना चाहिये कि मनुष्य के जीवन में शक्ति का उदय होना चाहिये ।

११४–ताप और तप

जीवन में शक्ति और साहस का संचार हो इसके लिये जरूरी है कि मनुष्य का मन बेडर, निर्भय या अभय बने। निर्भयता भक्ति या सेवा की डोर का प्रारंभिक छोर मानी जानी चाहिये। "न भयं इति अभय:"—जहां किसी भी प्रकार का भय या डर नहीं रह जाता, वहीं अभय अवस्था उत्पन्न होती है। ससारी जीवन के सस्कारों से दिल और दिमाग में जब तक डर और भय का वातावरण बना रहता है तब तक यह निश्चय है कि सेवा का प्रसंग बनना कठिन ही रहता है।

समस्या सामने आती है कि कोई भी अभय कैसे बने? अभय उसे बताया गया है कि जिसके लिये कोई भी भय नहीं हो। किन्तु प्रश्न है कि भय किसके साथ नहीं है? इस जीवन में मनुष्य के साथ कोई इक्का–दुक्का भय नहीं, बल्कि भय का समूह चल रहा है जो उसका पीछा एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ता है। प्रत्येक क्षण मनुष्य उससे भयभीत होता हुआ चलता है और वह स्वयं ही नहीं डरता बल्कि अपने डर से वह दूसरों को भी डराता हुआ चलता है।

शास्त्रकारों ने भय के मुख्यरूपेण सात प्रकारों का निर्देश किया है इहलोक का भय अर्थात् इस लोक में रहते हुए जो विविध प्रकार के भय मनुष्य के सामने आते हैं, उनका वर्गीकरण इस प्रकार से किया गया है। हिंसक सिंह या विषधर सर्प को देखते ही वह भयाक्रान्त हो जाता है, चाहे इनकी ओर से आक्रमण करने की तैयारी न भी हो। और तो और बाजार में चलते हुए आपके सामने सांड भी आ गया तो आप भयभीत होकर तुरन्त एक तरफ खिसक जायेंगे। इस तरह के स्थूल भय के अलावा राजदंड भय

आदि और अन्य कई प्रकार के मानसिक भय भी होते हैं जो अन्दर-ही-अन्दर मनुष्य को भयग्रस्त बनाये रखते हैं।

भयजन्य यह दुर्बलता मनुष्य के मस्तिष्क में कोई एक दो रोज से काम नहीं कर रही है बल्कि दीर्घकाल से भय मूल संस्कार के रूप में बैठा हुआ है। माता की कुक्षि से लेकर बाल्यावस्था में इन सस्कारों का प्रवेश होता है और एक बार जब ये भय के संस्कार मजबूती से चिपक जाते हैं तो फिर बिना कठिन प्रयास एवं निरन्तर अभ्यास के उन संस्कारों को हटा पाना आसान नहीं रहता। बालक जब निर्भयतापूर्वक इस संसार के रंगमंच पर आना चाहता है तो उसके कच्चेपन में ही उसकी माता, उसके पिता अथवा अन्य परिवारजन निरर्थक-भाव से या अपनी अज्ञानता से उसमें भय के भाव भरना प्रारम्भ कर देते हैं। यदि प्रारम्भिक अवस्था में इस संबन्ध में माता–पिता पूरी तरह से जागरूक रहें एवं किसी भी प्रकार से बच्चे में भय का संस्कार प्रवेश ही न होने दें तो संभव है कि वह बालक ऐसा बन सकता जो समझे ही नहीं कि भय नाम की क्या विचारणा होती है? ऐसे-ऐसे बच्चे देखे गये हैं जो निर्भय भाव से सर्पों के साथ खेलते रहते हैं और हिंसक प्राणी भी शायद ऐसी निर्दोष कोमलता के संसर्ग में आकर अपनी हिंसक-वृत्ति को भूल-से जाते हैं।

इस सम्बन्ध में एक घटना मुझे याद आ गई है। स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशलाल जी म. सा. एक बार कोटे की तरफ पधार रहे थे। रामगंजमण्डी की बात है। वहां आचार्य श्री ने एक बच्चे के विषय में व्याख्यान में जिक्र किया कि बच्चा जब तक भय की संज्ञाओं को प्राप्त नहीं

करता है तब तक वह हिंसक पशुओं के साथ भी निर्भय होकर खेलता है। एक संघी भाई व्याख्यान में बैठा था, व्याख्यान समाप्त होने के बाद उसने कहा कि आपने बालक के विषय में जो बात फरमाई है वह मेरे अनुभव में भी आई हुई है।

उस सिंधी भाई ने बताया कि मेरा अपना घर गांव के किनारे पर है। एक दिन मैं मजदूरी से लौट रहा था तो क्या देखता हूं कि मेरा छोटा बच्चा सांप के साथ खेल रहा है। वह सांप भी बड़ा और विचित्र ढंग का चितकबरा जहरीला सांप था। मैं तो उसे देखते ही बुरी तरह डर गया किन्तु बच्चा सांप को रस्सी की तरह इधर-उधर पटक रहा था और मजे से खेल रहा था। ताज्जुब तो यह था कि सांप भी जैसे मस्ती से उसके साथ निर्दोष भाव से खेल रहा था। मैं घबरा गया। मैं आवाज करूं और कहीं वह बच्चे को काट खाए तो मुश्किल और धीरे से बच्चे को बुलाने की चेष्टा करुं तो वह देखे ही नहीं क्योंकि उस को तो खेलने के लिये बढ़िया खिलौना मिला हुआ था। तभी मुझे एक तरकीब सूझी। मैं भागता–भागता गया और बाजार से एक सुन्दर रंगीन खिलौना लेकर आया और उसको मैंने बच्चे को दूर से दिखाया। तब बच्चा अपने हाथ में से सांप को पटक कर वह खिलौना लेने के लिये मेरी तरफ आने लगा। तब सांप भी अपने रास्ते चला गया। उसने बच्चे को कोई नुकसान नहीं पहुंचाया।

यह घटना सुनकर सहज ही में सबके दिल में यही विचार आया कि जब आप लोग बच्चे को डर सिखाते हैं कि देख, सांप आ रहा है, पास में मत जाना— वरना डर

नामकी चीज को वह समझता ही नहीं है आप लोग प्रारम्भ से एक-एक बात के जरिये डर बच्चे के दिल में बैठाते रहते हो और वे सब संस्कार मिलकर उसे आगे की जिन्दगी में पक्का डरपोक बना देते हैं। यह सही है कि सांप के जहर से बच्चे को सावचेत करना पड़ता है, मगर मैं कभी-कभी सोचता हूं कि जितना जहर सांप में होता है, क्या मनुष्य में कहीं उससे भी अधिक जहर तो नहीं भरा होता है? कभी अगर कोई जहरीला सर्प किसी के दंश लगा दे तो शायद मनुष्य एकाएक मरेगा नहीं, सामयिक चिकित्सा से उसे बचाया जा सकता है। सर्प में किसी प्राणी को डसने की स्थिति जितनी नहीं है उतनी अपनी रक्षा व भय की है। इसी कारण सर्प किसी से भयभीत होकर भागता है। वह प्रायः आक्रमण की भावना को हटाने के लिये दंश लगाता है। परन्तु कई मनुष्यों का खून ऐसा पाया जाता है कि सर्प यदि उसको काट खाए तो सर्प के मुंह में उनके खून के पहुंचते ही उनको तो कुछ नहीं होता, उल्टे उनके खून का जहर सर्प को चढ़ जाता है और वह देखते-देखते सामने ही मर जाता है। तो बताइये, सप ज्यादा जहरीला है या मनुष्य?

यह जहर मनुष्य के अपने विकारों से उत्पन्न होकर शरीर व खून में प्रवेश करता है। इस जहर के पैदा होने का मुख्य कारण होता है क्रोध। जब कोई क्रोध करता है तो उसकी तीव्रता या मन्दता के अनुपात से यह जहर पैदा होता है। क्या आज का मानव साधारणतया प्रचंड क्रोधी नहीं है? जो अधिक क्रोधी होगा, उसके खून में जहर के कीटाणु भी अधिक होंगे। वैज्ञानिकों ने भी यह सिद्ध करके

बता दिया है कि एक घँटे के तेज गुस्से से इन्सान के खून में इतने जहरीले कीटाणु पैदा हो जाते हैं कि उस खून के जहर को बाहर खींच कर अगर उसका प्रयोग अन्य व्यक्तियों पर किया जाय तो उससे अस्सी आदमियों को मौत के घाट उतारा जा सकता है। इतने भयंकर जहर से डरते रहने के संस्कार तो आप स्वयं बनाते नहीं और अपने बच्चों में ढालते नहीं, किन्तु बिना छेड़ने पर भद्रिक-से पशुओं से भयभीत होने के गलत संस्कार आप डालते रहते हो यह सोचने की बात है। जिस विकराल विष स बच्चे को डरना चाहिये—क्रोध करने से उसमें झिझक पैदा होनी चाहिये— वह तो उसमें होता नहीं और व्यर्थ ही दूसरे भय से डरता हुआ वह कायर बन जाता है। इस बात की गांठ बांध- लीजिये कि आप स्वयं जितना अधिक हो सके, क्रोध से बचें और अपने बच्चों में इस विष से बचने के संस्कार डालें।

कहा गया है कि एक माता सौ शिक्षकों के बराबर होती है। एक शिक्षक भी अपने योग्य निर्देशन से विद्यार्थी का जीवन निर्माण करता है, लेकिन बाल्यावस्था में माता का उस पर जितना सीधा असर पड़ता है, उतना और किसी का नहीं। जीवन के अधिकांश संस्कार बालक को अपनी माता से मिलते हैं। ये सस्कार ही जीवन भर उसके प्रत्येक कार्य में क्रियाशील बने रहते हैं। प्रारम्भ में यदि माता बच्चे के साथ अपने प्रत्येक व्यवहार में पूर्णतया सतर्क रहे और ऐसा रहना स्वयं माता की शिक्षा पर आधारित रहता है तो बालक के जीवन का ढलान कुछ और ही सांचे का बन जाता है। भय के संस्कार के साथ में भी यही बात लागू होती है। "उस अंधेरी कोठरी में भूत है, बाबा तुझे

पकड़ ले जायगा, डाकन तुझे खा जायगी" आदि विविध वाक्यों से अगर मां बच्चे में काल्पनिक भय के निरन्तर बीज बोती रहती है तो वही बच्चा जब बड़ा होता है तो एक चूहे की खटक से भी पसीने से लथपथ हो जाता है।

जब इहलोक के भय के संस्कार ही इतने प्रबल होते हैं तो परलोक के भय के संस्कार और उनकी आतुरता भी कम नहीं होगी। इस तरह के भय के संस्कार बच्चे की स्वाभाविक प्रकृति में विकृति ला देते हैं। बच्चे की प्रकृति में चचलता रहती है। वह माता को सताता भी है मगर सताने की भावना से नहीं अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिये वह सताता है। माता यदि योग्य होती है तब तो वह उसकी आवश्यकताओं को यथासमय समझ सम्यक् प्रकार से लालन-पालन कर लेती है और बच्चे को स्वस्थ एवं शांत स्वभाव में ढाल देती है वरना माताएं बच्चे के मन में सैंकड़ों प्रकार के काल्पनिक भय बिठा कर उसे कायर, डरपोक और निकम्मा बना डालती हैं। बच्चे का चूंकि माता पर पूरा-पूरा विश्वास होता है इसलिये माता जो कुछ कहती है, उसे वह अपने मन, मस्तिष्क में जमा लेता है। इस कोमल मस्तिष्क में एक बार जैसे भी संस्कार जम जाते हैं, उनको फ़िर उखाड़ देना दुःसाध्य नहीं तो अति श्रमसाध्य तो होता ही है।

जब ऐसे सांचे में याने कि संस्कारहीन अथवा यों कहिये कि कुसंस्कारों के सांचे में निरन्तर बालकों को ढाला जा रहा हो तो उनका भविष्य क्या होगा? ये बड़े होकर अपने गृहस्थाश्रम में भी जब असफल होते रहेंगे तो धर्मक्षेत्र में इनसे क्या आशाएं हो सकती हैं। क्योंकि जीवन को कहीं भी सफलता दिलाने वाला मुख्य गुण निर्भयता होता है

निर्भय व्यक्ति संसार के कार्य करेगा तो अपना शौर्य दिखा-येगा और वही जब धर्म के क्षेत्र में भी प्रवेश करेगा तो अपनी निर्भयता से वहां भी असभव को संभव करके दिखा देगा।

सात प्रकार के भय का उल्लेख करने वाला शास्त्रीय पाठ इस प्रकार है—

"सत्तेहिं भयट्ठाणेहिं, इहलोगभएणं, परलोगभएणं, आदाणभएणं, अकम्हाभएण, आजीविकाभएणं, मरणभएणं, सिलाग्राभएणं।"

जो तैंतीस बोल आते हैं, उनमें भी भय के इन सात प्रकारों का उल्लेख है। श्रमण-प्रतिक्रमण में भी इन्हें गिनाया गया है। प्रतिदिन दोनों वक्त प्रतिक्रमण करते समय साधु को भय की इन प्रक्रियाओं को ध्यान में लेना चाहिये और यदि वैसे भय से वह कभी भी डरा हो तो उसका उसे परिमार्जन करना चाहिये ताकि उसके साधु-जीवन में निर्भ-यता की शक्ति निरन्तर बढ़ती रहे।

भय के इन भावों को मन, मस्तिष्क में से निकाल फेंकने का प्रयास आप लोगों के लिये भी श्रेयस्कर है। जब तक भय की दशा मन में बनी रहेगी तब तक असंभव को संभव कर दिखाने की बात तो बहुत दूर—साधारण से साहस के कार्य करने में भी अक्षमता रहेगी, जो संकल्प करके भय से ऊपर उठता है, वही निर्भयचेता मनुष्य दृढ़तापूर्वक अपने जीवन की साधना में लग कर महान् साहसिक उद्देश्यों को सहज ही में सम्पादित कर लेता है। साहसजन्य सफलता संसार में भी मिलती है और धर्म के क्षेत्र में भी। निर्भ-

यता एक उन्नायक सद्‌गुण होता है।

निर्भयता के सद्‌गुण के प्रति आपकी रुचि और आस्था बढ़े—इस दृष्टि से आपको एक रूपक बताता हूं। अगर एक वैज्ञानिक के मन में भय के संस्कार हों तो आविष्कार व अनुसंधान के क्षेत्र में क्या वह आश्चर्यजनक उपलब्धियां प्राप्त कर सकता है ? आज की जो सभी क्षेत्रों की वैज्ञानिक प्रगति है, निश्चय ही वह वैज्ञानिकों की निर्भय मनोवृत्ति के आधार पर ही साधी जा सकी है। जहां वे अपनी जान को हथेली पर रख कर सुदूर अवकाश में रॉकेटों से उड़ानें भरते हैं या अन्य विविध प्रयोग बे-डर होकर करते हैं तभी कोई भी अनुसन्धान या आविष्कार सफल बन पाता है। यदि भय के संस्कारों से पीड़ित होकर वे घरों में दुबक कर बैठ जाते तो क्या विज्ञान इतनी ऊँचाइयाँ पार कर सकता था जो उसने आज तक पार की हैं ?

निर्भय मन कहीं भी निःशंक होकर गुण को देखता है और उसे प्राप्त करता है। गुणवान् कहीं भी जाता है तो गुण ही को देखता है और निकटस्थों पर अपने उस गुण की छाप छोड़ देता है। त्रिखण्डाधिपति कृष्ण की वह कथा आप जानते होंगे कि मार्ग में एक मरे हुए कुत्ते की दुर्गन्ध से जब सबने नाक-भौं सिकोड़ लिये तो उन्होंने कुत्ते की मृत देह की ओर निर्विकार भाव से देखकर कहा कि देखो, इसकी दतपंक्ति कितनी उज्ज्वल है ? उन्हें सड़ती हुई मृत देह नहीं दिखाई दी, उसकी दुर्गंध महसूस नहीं हुई मगर उन्हें सिर्फ एक अच्छाई थी, वही दिखाई दी। निर्भयवृत्ति के गुणीजन इसी प्रकार के गुण-ग्राहक ही होते हैं।

यद्यपि भारत देश की सांस्कृतिक निधि अमूल्य है।

इसके इतिहास की शौर्य–गाथाओं की मिसाल अन्यत्र मुश्किल से ही मिलती है, फिर भी वर्तमान समय का यह खेदजनक तथ्य है कि आज इसी देश में निर्भयवृत्ति का अधिकांशतः अभाव देखा जाता है। यह चाहे विदेशी शासन की दासता से हुआ हो अथवा समुचित ज्ञान एवं शिक्षा के अभाव से–किन्तु ज्यादा अफसोस इस हकीकत का है कि आजादी को पाव शताब्दि तक भी हमारे यहां प्राचीन काल-सी निर्भय-वृत्ति को पनपाया नहीं जा सका है।

एक प्राचीन कथा है। एक वीर क्षत्रिय पुत्र ने अपनी माता से प्रश्न किया—हे मातेश्वरी, एक रुपया खर्च करने से नौ सौ रुपयों का मुनाफा मिलता है, एक तत्त्व जानने से नौ सौ गुणा लाभ होता है तो उस व्यापार को मुझे करना चाहिये अथवा एक के बचाने से एक की रक्षा मात्र का काम मुझे लेना चाहिये? प्रश्न समुच्चय था, काश, वैसा प्रश्न आपके सामने भी आ जाय तो आप क्या करेंगे? खैर माता ने उत्तर दिया—एक को देने पर नौ सौ गुना लाभ हो तो वह करना चाहिये। वीरपुत्र ने माता को प्रणाम किया और प्रस्थान करने से पूर्व बोला–माताजी, मैं भले ही इकलौता पुत्र हूं, किन्तु इस समय एक स्थान पर नौ सौ दम्पति संकट से घिरे हुए हैं, उनको अपनी जान की बाजी लगा कर भी खतरे में से निकालने के लिये मैं जा रहा हूं। एक को छोड़ रहा हूं मगर नौ सौ को रख सकूंगा।

मां चौंक पड़ी और आंसुओं से आँखें भर कर बोली–पुत्र, यह कैसी पहेली तुम बुझा रहे हो? पुत्र ने स्पष्ट करते हुए कहा—माँ, यहां के महाराजा ने जीवन भर सत्ता और सम्पत्ति का भरपूर भोग किया है, फिर भी अब वे जब

रोगग्रस्त हो गये हैं और असाध्य रोग से पीड़ित हैं तो एक तांत्रिक की राय से वे नौ सौ नव-दम्पतियों के ताजे रक्त में स्नान करके स्वास्थ्यलाभ करना चाह रहे हैं। इस हेतु नौ सौ नव-दम्पतियों को पकड़वा कर कारागार में बन्द कर रखा है और कल से उन्हें मारते रहकर राजाजी के स्नान के लिये रक्त पहुंचाया जायगा। मैं इन नौ सौ दम्पतियों की रक्षा करना चाहता हूं, यह जानकर भी कि उसके बाद मुझे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। इस कारण मैंने आपसे यह अनुमति मांगी है, कोई पहेली नहीं बुझाई है।

वीरपुत्र की वह वीरमाता थी। उस वीरमाता के समक्ष अपने जीवन का भी प्रश्न था, किन्तु न्याय और नीति को वह समझने वाली थी। उसने निःसंकोच अपनी आज्ञा देते हुए भलामण दी—हे लाल, तूने मेरी कोख से जन्म लिया है और इस समय जबकि तू अपने जीवन का बलिदान नौ सौ दम्पतियों की जीवन-रक्षा हित करने जा रहा है तो मेरे से अधिक हर्षित और कौन हो सकेगा? उस माता के हृदय में निर्भयता थी तो उसने अपने बच्चे को भी निर्भयता की ही घुट्टी दी। वीर पुत्र को उसने वीरतापूर्ण कार्य के लिये निर्भयतापूर्वक जाने दिया।

सुनसान मध्यरात्रि में उस वीर पुत्र ने जाकर कारागार के द्वार खोल दिये और उन नौ सौ ही दम्पतियों को मुक्त कर दिया। किन्तु उसके बाद वह भागा नहीं, स्वयं कारागार पर खड़ा हो गया। प्रातःकाल जब राजा को इसकी सूचना मिली तो वह क्रोधित हो उठा, उसने पूरी सेना की टुकड़ी उस वीरपुत्र को पकड़ लाने के लिये भेजी। वह वीर-पुत्र उससे संघर्ष करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। आज

भी उस स्थान को हिन्दू और मुस्लिम दोनों आदर की नजर से देखते है, जहां कहा जाता है कि उस वीरपुत्र का सिर लड़ते-लड़ते धड़ से कट कर गिरा था।

यह तो एक रूपक है। किन्तु जब तक माताएं ऐसे निर्भय संस्कार अपने बालकों में नहीं भरेंगी और वीरपुत्रों का निर्माण नहीं होगा तब तक सामूहिक जीवन में से भय को उखाड़ कर फेंका नहीं जा सकेगा। आप में से प्रत्येक को यह देखना है कि क्या आपके घरों में बच्चों पर निर्भयता के संस्कार डाले जाते हैं ? क्या ये बहिनें स्वयं निर्भयता का भाव रखती हैं और अपने बालकों को भी निर्भय बनाना चाहती हैं ? वह वीरपुत्र तो नौ सौ दम्पतियों की रक्षा के लिये खेत रहा किन्तु जहां न्याय और नीति का प्रश्न अड़ा हुआ हो वहां चाहे एक की भी रक्षा का सवाल हो तब भी और जहां छः काया की रक्षा के रूप में अरबों-खरबों प्राणियों की रक्षा की स्थिति हो तब भी—आपकी संतान ऐसी होनी चाहिये जो सर्वस्व त्याग कर भी निर्भयता का रंग दिखावे। ऐसी सन्तान ही असंभव को भी संभव करके दिखा सकती है।

किन्तु आज तो माता-पिताओं का मानस भी कुछ दूसरे ही प्रकार का हो रहा है। यदि कोई बच्चा धार्मिक संस्कार लेने की दृष्टि से सन्तों के पास जाता है और छः काया की रक्षा करने की दृष्टि से निर्भयता दिखा कर वीर बनना चाहता है तो उसे माता-पिता रोकना चाहते हैं। यह भी संस्कारों की ही कमी है। निर्भय बनना चाहने वाले ऐसे पुत्र को तो और अधिक निर्भयता की शिक्षा देनी चाहिये कि वह वीर बनकर आध्यात्मिक क्षेत्र में असंभव को संभव कर दिखावे।

जब निर्भयवृत्ति के प्रबल संस्कार बनते हैं तभी भगवान् की भक्ति और सेवा की भी कड़ी जुड़ सकती है। भगवान् संभवनाथ की प्रार्थना के अनुसार सेवा करने की अभिलाषा वैसी स्थिति में ही पूरी हो सकेगी जब उसकी भूमिका रूप यह निर्भयता का गुण जीवन में विकसित कर लिया जायगा। जिसके मन में निर्भयता के अमिट संस्कार होते हैं, वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, अपने जीवन में निर्भय होकर सफलतापूर्वक भगवान् की भक्ति कर सकता है और अपनी आत्मा को परमात्मत्व के निकट पहुंचा सकता है।

[मन्दसौर—दिनांक ६—८—६९]
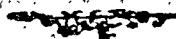
मनोनिग्रह और हठयोग

भय चंचलता हो जे परिणामनी रे
द्वेष अरोचक भाव ।
खेद प्रवृत्ति हो करतां थाकिए रे
दोष सबोध लखाव ।

भगवान् संभवनाथ की प्रार्थना के प्रसंग में ही प्रभु की भक्ति और सेवा के भेद को समझने की चेष्टा की जा रही है। प्रार्थना की कड़ियाँ जब दिल की कड़ियों से जाकर जुड़ें तब कहीं जाकर मन की ऐसी भूमिका तैयार हो सकती है, जिसके आधार पर मन भय से छुटकारा पा जावे तो उसकी चंचलता भी एकाग्रता में परिवर्तित हो जाय। अन्दर-बाहर की कड़ियों में जब एकरूपता आती है तभी निष्ठा-पूर्वक भगवान् की सेवा का प्रसंग बन सकता है, क्योंकि यह सेवा वास्तव में निजात्मा की सेवा है और निजात्मा के विकास की जहां तक पृष्ठ-भूमि तैयार न हो, विकास की कड़ियों को आगे नहीं चलाया जा सकेगा।

पृष्ठभूमि-निर्माण के सम्बन्ध में प्रार्थना की उपरोक्त

पंक्तियां स्पष्ट बता रही हैं कि मन का भय समाप्त हो जाना चाहिये और उसके बाद क्रम आता है मन के परिणामों की चंचलता को समाप्त करने का। "सेवन कारण पहली भूमिका रे, अभय, अद्वेष, अखेद"—के अनुसार इसमें से भूमिका के पहले साधन—अभय पर विचार चल रहा है जिसके अनुसार भय हट जाने के बाद परिणामों की चंचलता हट कर उनमें स्थिरता, सौम्यता एवं एकाग्रता का आना आवश्यक है।

सम्यक् प्रकार से आत्मा में सेवा का अवस्थान बने, इस हेतु तीनों प्रकार की अवस्थाओं में पहली अवस्था अभय रूप में बताई गई है। "भयं न यस्मै स अभयः" जिसको किसी प्रकार का भय नहीं रह गया है वह अभय होता है। तो भय कितने और किस प्रकार के होते हैं— इस पर हमने विचार किया है। बाहरी पदार्थों से पैदा होने वाले भय स्वयं में कोई भय नहीं हैं जब तक कि अपने अंतर् में ही भय की मौजूदगी न हो। अन्दर का भय ही बाहर नाना रूपों में दिखाई देता है। भय सर्वप्रथम अन्दर से जागृत होता है और वह बाहर के वातावरण में प्रतिबिम्बित होता है। इसके अलावा भी दो प्रकार की भय दशाएं होती हैं—एक तो बाहर वास्तव में खतरे व भय का वातावरण मौजूद है किन्तु अन्दर मन में किसी तरह के भय का भाव नहीं है तो वह बाहर का भय किसी हालत में उसे डरा नहीं सकता। भय होते हुए भी उससे भीति नहीं होती।

दूसरी अवस्था ऐसी होती है कि हकीकत में बाहर के वातावरण में कोई भयजनक स्थिति नहीं होती किन्तु अन्दर मन में भीति का भाव प्रबल हो रहा होता है तब वह अन्दर का भाव बाहर के वातावरण में काल्पनिक भय-

दृश्यों की रचना कर लेता है। इस तरह इन दोनों अवस्थाओं में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि चाहे बाहरी निमित्त का भय प्रचलित हो, किन्तु प्रभावशाली मुख्य भय अन्दर से पैदा होने वाले परिणामों से ही उपजता है। इस कारण अन्तर्भय की प्रबलता को जब तक सही ढंग से समझकर उससे निवृत्ति पाने का कारगर उपाय नहीं किया जायगा तब तक सम्पूर्णतः अभय-वृत्ति का विकास नहीं किया जा सकेगा। भगवान् की सफल सेवा के लिये सिर्फ बाहरी पदार्थों से पैदा होने वाले भय से ही निवृत्ति नहीं लेनी है बल्कि मुख्यतः मन के भय को समूल नष्ट करना है। भय जहां से पैदा होता है, वहीं पर उसको सांघातिक रूप से काट डालना है ताकि बाहर का भय कभी आस्तित्व में ही नहीं आ सके।

अभय-वृत्ति के विकास के लिये मूलतः जिसका निग्रह किया जाना चाहिये वह है मन। भय का मुख्य कारण होती है मन की चंचलता। मन के परिणाम ही मनुष्यों को उनके सभी कार्यों में प्रेरित, नियोजित या उपेक्षित बनाते हैं। पहले मन ही में कोई बात उठती है जो कार्य रूप में परिणित होकर तदनुसार फल देने वाली बनती है। मन के अनुभाव जिस प्रकार के होंगे वैसी ही मनुष्य की विचार एवं कार्य शक्ति बनेगी। यदि उन भावों में चंचलता है तो वैचारिक निर्णय ठोस नहीं हो सकते तथा उनका कार्य रूप भी सफल नहीं बन सकेगा। मन में एकाग्रता है— स्थिरता है तो उस स्थिति में लिये गये निर्णय भी विचार एवं कार्य की दृष्टि से गम्भीर तथा सौम्य होंगे।

आज का साधक प्रभु की भक्ति एवं सेवा करने बैठता है और सोचता है कि इस सेवा की साधना में मेरा मन

स्थिर हो जाय, क्योंकि मन की चंचलता से साधना का प्रसंग बनता नहीं है । अतः वह मन को स्थिर करने का प्रयास करता है । उस प्रयास में जब उसको आंशिक सफलता भी नहीं मिलती है तब अधिकतर वह या तो मनोनिग्रह के अप्राकृतिक उपायों की ओर बढ़ जाता है अथवा ऊब कर मनो-निग्रह के अभ्यास को ही छोड़ बैठता है । आखिर में जाकर वह कहना शुरू कर देता है कि मन कभी वश में नहीं हो सकता है ।

वास्तव में मन को वश में कर पाना एक टेढ़ी खीर है । आप किसी एक विषय पर कुछ गहराई से विचार करना चाहते हैं अथवा सिर्फ प्रभु के नाम की एक माला ही एक-चित्त से फिरा लेना चाहते हैं और मन को रोक कर उसे आप उसमें लगाना चाहते हैं, लेकिन होता क्या है कि आपने मन को लगाया एक विषय या प्रभु के नाम में और दूसरे ही क्षण वह दौड़ जाता है आपके कारखाने में कि वहां के उत्पादन को कैसे हलकी जात का बनाया जाय, जिससे खर्चा कम बैठे और मुनाफा ज्यादा आवे । वहां से मन को किसी तरह खींचखांच कर लावें और फिर से प्रभु के नाम में जुटावें, किन्तु वह फिर अगले ही क्षण आपके पुत्र के विवाह की चिन्ता में भाग जायगा कि अभी तक पचास हजार का माल देने वाले लड़कियों के पिता तो आ चुके हैं— अब और माल के लिये ठहरा जाय या सम्बन्ध तय कर लिया जाय । आप फिर वहां से उसे खींच कर माला में पिरोना चाहते हैं और वह बार-बार इधर-उधर भागता रहता है । अक्सर पहले-पहले नतीजा यह निकलता है कि चाहे आप माला फिराने बैठे हैं या सामायिक लेकर

उस क्रिया का समय पूरा हो ज ता है, परन्तु लगता है कि अन्त:करण से तो उस क्रिया को साधना हुई ही नहीं। शरीर जरूर क्रिया में बैंठा दीख रहा था किन्तु मन तो न जाने कहां–कहां छलांगें लगाता फिर रहा था।

मन की गति इतनी चंचल होती है कि वह एक क्षण अगणित स्थानों की सैर कर आता है और जितनी चंचलता अधिक होती है उतने ही विविध विचार तो कर लिये जायेंगे किन्तु उनमें से किसी एक विचार का भी सफल कार्यान्वयन हो—इसकी आशा कम ही रहती है। अत: इसमें कोई संदेह नहीं कि जब तक मन को इस चंचलता को समाप्त न करदें तथा उसकी गति पर कठोर निग्रह लागू न कर दें, साधना की सफलता का वातावरण नहीं बन सकेगा।

आत्म–साधना की ओर जिसने आगे कदम बढ़ाया है, उसके सामने दो ही विकल्प रहते हैं कि या तो वह भगवान् संभवनाथ की शरण में जाकर उनकी प्रार्थना एवं निज नियंत्रण के आधार पर मन को एकाग्र बनाने का अभ्यास करे तथा उस एकाग्रचित्तता से प्रभु की भक्ति और सेवा साधे अथवा मन की गोताखोरी में उलझ कर अपनी साधना की स्थिति को खो वैठे। प्राय: कई साधकों के ऐसे भाव बन जाते हैं कि जब तक मन की चंचलता समाप्त न हो और उसे वश में न कर सकें तब तक साधना के क्षेत्र में आगे कुछ भी नहीं किया जाना चाहिये। किन्तु निराशा के ऐसे अंधकार में डूबने की जरूरत नहीं है, क्योंकि भगवान् संभवनाथ के आदर्श स्वरूप को गहराई से हृदयंगम करते रहें तो शीघ्र ही मन वश में होकर रहेगा। उनका आदर्श स्वरूप इतना रोचक एवं अनुप्रेरक है कि एक बार ज्ञान-दृष्टि से

उसे समझने और परखने का प्रयास कर लिया जाय तो मन में उसे निजात्मा के लिये भी पा लेने की अडिग ललक पैदा हो जाती है। यह ललक ही मन को इतनी मजबूती से उस दिशा में मोड़ देगी कि वह पथभ्रष्ट होने की कोशिश तक नहीं करेगा।

यह मानकर चलिये कि संसार में एक भी ऐसा कार्य नहीं जिसे संकल्पवान् और साहसी पुरुष पूरा न कर सके। अरे, साहसी पुरुष ही तो असंभव को भी संभव करके दिखाते हैं, फिर मन की चंचलता पर रोक लगाने का काम कोई असंभव काम नहीं है। भगवान् संभवनाथ के दिव्य स्वरूप में मन को एकाग्र करने के अभ्यास से चंचलता को धीरे-धीरे समाप्त करते जाना कठिन नहीं होता। दुनिया में ऐसा कोई तत्त्व नहीं जिसकी स्थिति का पता नहीं लगाया जा सके। यह पता लगाने का काम भौतिकता की दृष्टि से ही नहीं होता, उसमें आध्यात्मिक जीवन की परिपुष्टि का ज्ञान भी आवश्यक होता है। बल्कि यों कहा जाय कि आध्यात्मिक क्षेत्र किसी भी तत्त्व का पता लगाने में कभी असफल नहीं होता, जबकि भौतिक विज्ञान की कहीं भी सम्पूर्ण रूप से पैठ नहीं होती है। जो उसने पता लगा लिया है, वह कहीं भी पूर्ण नहीं है। मन के सम्बन्ध में ही देखिये कि विज्ञान न तो इसके स्वरूप का अब तक ठीक पता लगा पाया है, न वह मन की चंचल गहराइयों में ही उतर कर उसकी गति के बारे में कोई अनुमान लगा सका है। किन्तु आध्यात्मिकता के लिये मन ऐसा कोई दुरूह तत्त्व नहीं, जिसका वह पता नहीं लगा सके, बल्कि मन की गति के प्रत्येक रूप का पूर्ण विवेचन आध्यात्मिक क्षेत्र में होता हुआ

कि श्वास पर कुछ काबू पा लिया जा सकता है। कई वक्त तो कुम्भक आदि के प्राणायाम की प्रक्रिया से मस्तिष्क की बारीक नसें फट जाती हैं और साधक जीवन भर के लिये या तो विक्षिप्तता का बोझ मोल ले लेता है अथवा अपने जीवन से ही हाथ धो बैठता है। ऐसा कुप्रभाव किसी गलत प्रक्रिया से ही हो जाता है।

समाधि के द्वारा भी कई लोग मानसिक नियंत्रण करना चाहते हैं समाधि में वायु को कपाल में चढ़ा लेते हैं और फिर पंच भूत में से एक–एक तत्त्व की साधना की जाती है। इसमें भी श्वास-क्रिया का ही मुख्य प्रभाव रहता है। समाधि के द्वारा दिल की धड़कन तक को रोक लेते हैं। किन्तु ये सारे उपाय बाहरी स्थिति पर आधारित होने से अपने स्थूल रूप में ही शरीर की अमुक क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं। ये मन की सूक्ष्म चंचलताओं का निग्रह करके उसे स्थायी रूप से सद्विचारणा में स्थिर कर सके हों - ऐसा नहीं पाया गया है।

हठयोग की अपेक्षा सहाजिक योग की स्थिति के साथ यदि मन की चंचलता को समाप्त करने की कोशिश की जाय तो चंचलता से निवृत्ति मिल सकती है। साहजिक योग की प्रक्रिया के लिये केवल बाहरी साधनों के ऊपर ही अवलम्बित नहीं रहना है, बल्कि बाहरी साधनों की सहायता के बाद साधना को अन्तर् की कड़ियों से जोड़ना पड़ता है।

मन ऐसा चंचल तुरंग है जिस पर नियंत्रण न कर सको तो वह न जाने कहां–कहां और कैसी–कैसी स्थिति में गिराता रहता है, जिसका कोई अनुमान भी नहीं। परन्तु यदि इसी तुरंग के आप एकाग्रता की लगाम लगा सको तो

फिर इस तुरंग के समान शक्तिशाली एवं गतिशाली भी दूसरा साधन नहीं मिलेगा । लगाम से पूरी तरह नियंत्रित यह तुरंग फिर आत्म-विकासपथ पर इतनी सन्तुलित और स्वस्थ गति से चलेगा कि फिर आपकी चरम-यात्रा आसान बन जायगी ।

इसीलिये कहा गया है कि— "मन एव मनुष्याणां कारण बंधमोक्षयोः ।" मनुष्य के बन्ध या मोक्ष का कारण मन ही होता है । मन का चंचल घोड़ा बेकाबू है तो वह बन्ध कराता जायगा जिसके कारण आत्मा कर्मों से बंधकर जन्म-मरण के चक्र में भ्रमित होती रहेगी । मगर अगर यही घोड़ा काबू में आ जाता है तो फिर इसी एकाग्र मन के जरिये मोक्ष तक की महायात्रा सफलतापूर्वक पूरी की जा सकती है ।

अन्तर् की कड़ियों को जोड़कर ही मन की चंचलता को मेटा जा सकता है—ऐसा मेरा मानना है । बाहर के साधन मन पर मार कर सकते हैं, मगर उसकी चंचलता को रोक नहीं पायेंगे । ये अन्तर् की कड़ियां जब भगवान् संभवनाथ के दिव्य स्वरूप चिन्तन के साथ जुड़ती हैं तब उनका सीधा प्रभाव मन की चंचलता पर पड़ता है । एकाग्रता ही चचलता की विपरीत स्थिति होती है । जब एकाग्रता आ जाय तो चंचलता का अभाव हो जायगा । भगवान् के दिव्य स्वरूप में मन जब एकाग्र होता है तो स्वभाविक रूप से उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है ।

आन्तरिकता के इस जीवन्त प्रयोग को एक दृष्टान्त से समझिये । एक छत का पंखा बिजली के करेन्ट से चल रहा है । उसकी कितनी तीव्र गीति होती है, चंचलता होती

है ? उसके चलते वक्त यदि गर्मी का तापमान बढ़ जाय और वह साधारण सीमा से ऊपर चला जाय तो पंखे की हवा का अनुभव भी कैसा बन जायगा ? मैंने तो सुना है, स्वयं ने कभी अनुभव नहीं किया किन्तु आप ही लोगों में से कहते हैं कि वैसी स्थिति में पंखे की हवा भी इतनी ज्यादा गरम हो जाती है कि उसे सहन करना मुश्किल हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि तब पंखा बन्द कर देने की जरूरत पैदा हो जाती है।

अब कल्पना कीजिये कि उस पंखे को बन्द करने का भार ऐसे आदमी पर आ गिरा है जो यह नहीं जानता कि इस चलते हुए पंखे को बन्द कैसे किया जा सकता है ? तब वह पहले अपने शरीर की ताकत का प्रयोग करना चाहेगा, किन्तु उसका परिणाम क्या होगा कि या तो वह बिजली का झटका खायगा या पंखे की पत्तियों का धक्का खाकर शरीर के किसी अंग को नुकसान पहुंचायगा। सोचिये, वह अपने हाथ से उसे नहीं रोककर किसी रस्से की सहायता से उसे रोकने की कोशिश करता है तो भी उसे सफलता नहीं मिलेगी। पंखा या तो टूट जायगा किन्तु करेन्ट रहते हुए अन्य किसी विधि से वह रुकेगा नहीं।

किन्तु जो उसके सही भेद को जानता है वह तत्काल उसके बटन को बन्द कर देगा और तुरन्त ही पंखा रुक जायगा। पंखे के चलने के मुख्य कारण को जो नहीं समझ पाये तो वह उसे बन्द भी नहीं कर सकेगा। बिजली का करेन्ट उस पंखे के चलने का मुख्य कारण है और उस कारण को समझ कर जो जब चाहे पंखा चला सकता है और उसे बन्द कर सकता है। सूत्र छोटा-सा है किन्तु जब तक चित्त

में जमे नहीं तो बाधा बड़ी बनकर ही हमारी सफलता के बीच में खड़ी रहती है।

आप बाहरी पंखे का रूपक तो समझ गये हैं किन्तु अब अन्दर के रूपक को समझने की भी कोशिश कीजिये। आपके अन्दर भी मन का पंखा घूम रहा है। उस मन के पखे को पकड़ने के लिये लोग तरह–तरह की विधियाँ प्रयोग में ला रहे हैं। पंखे को हाथ से पकड़ने की चेष्टा या रस्से से उसे रोक लेने की कोशिश को आप त्राटक कहिये, प्राणायाम, समाधि या हठयोग का कोई अन्य साधन कहिये, बात एक-सा ही है। इन विधियों से पखे पर चोट की जा सकती है या स्वय के शरीर पर भी चोट खाई जा सकती है किन्तु बिजली के करेन्ट को बन्द नहीं किया जा सकता है, जिसके बिना पंखा बन्द होता नहीं। बिजली का करेन्ट है परिणामों की चंचलता और उसका बटन है आत्म-निग्रह। इसके लिये साहजिक योग कारगर बन सकता है। आत्म-निग्रह के आदेश से ही परिणामों की गति हो सकेगी, तब वह गति सार्थक रूप में होगी। परिणामों की बिजली का करेन्ट जब नियंत्रित गति से चलेगा तो मन का पंखा भी आवश्यक रीति से ही घूमेगा।

आत्म निग्रह को प्राप्त करने के लिये नियमित साधना का क्रम बनाना होगा। चौबीस घंटों में से अगर एक घंटा भर भी यह सोचा जाय कि मन रूपी पंखे का बटन कहाँ है और उसका उपयोग कैसे किया जा सकता है तथा इसे जानने के बाद उस बटन को काम में लाने की कला का अभ्यास किया जाय तो फिर कैसे सभव होगा कि मन का पंखा मनमाने तौर पर चंचलगति से घूमता ही जाय और

किसी से रुके नहीं । पखे का चलना फिर पंखे के हाथ में नहीं होगा, बटन के काबू में होगा । बस इसी बटन को पाने और उसका सदुपयोग करने की स्थिति बन जाय तो समझिये कि भगवान् संभवनाथ की भक्ति और सेवा का एक बहुत बड़ा भेद हाथ लग गया है। जब तक आपमें मन को समझकर उसकी चंचलता को रोकने की कला हाथ में नहीं आयगी तब तक चाहे कितनी ही अन्य विधियों का आप प्रयोग कर लें किन्तु वास्तविक सफलता हाथ नहीं लगेगी ।

बुनियादी तौर पर मैं यह बताना चाहता हूं कि मन के परिणामों की चंचलता को समाप्त करने के लिये पहले उन परिणामों को चंचल बनाने वाले कारणों को भलीभांति समझ लेना होगा । तब बाद में उनसे संघर्ष करके उन कारणों को मिटाना पड़ेगा। ऐसे कौन-से कारण हैं—कौन-से निमित्त बन रहे हैं जिनसे परिणाम चंचल होते रहते हैं ? ऐसे कौन-से ढंग हो सकते हैं, जिनके द्वारा चंचल परिणामों के समय भी विचलित होने से रुका जा सकता है ? इस सारी प्रक्रिया को ध्यान में रखकर उन मूलभूत कारणों पर पहले अंकुश लगाना होगा ।

तात्त्विक एवं दार्शनिक रूप से प्रधान कारण है चिन्तन की सही दिशा का न होना। संसार में रहते हुए अनेकानेक कारणों से मन में उद्विग्नता के भाव आते रहते हैं और उन विचारों के कारण जिनका आत्मा की गतिविधि से विशेष सम्बन्ध नहीं होता, परिणामों को व्यर्थ ही चंचल बनाया जाता रहता है। इसलिये यह चिन्तन आवश्यक है कि शरीर ही सब कुछ नहीं है— यह तो उस मूल तत्त्व आत्मा का

आवरणमात्र है जो जीवन के समस्त क्रिया-कलापों का संचालक है । परिणामों की चंचलता भी इसी आत्मा के कारण पैदा होती है तो उनमें एकाग्रता भी यही आत्मा ला सकती है। फिर ये परिणाम चंचल होते हैं तो आत्मा की वर्तमान स्थिति से ही नहीं । जन्म-जन्मान्तरों से जो कर्म इस आत्मा ने संचित कर रखे हैं, उनके फल को भुगतने की परिस्थिति में भी इस चंचलता का प्रसार होता है। ये कर्म इस आत्मा के साथ बधे हुए हैं और अपना फल दिये बिना छूटेंगे नहीं । कभी मनुष्य इस जन्म की स्थिति से स्पष्ट वातावरण में भी रह रहा हो, उसके जीवन में पवित्रता भी बनी हुई हो तथा वह साधना के क्षणों में भी बैठा हुआ हो परन्तु पूर्व जन्म के कर्मों और पूर्व जन्म के मन को चंचल करने के परिणामों का उदय हो जावे तो उस समय उसके एकान्त शांत क्षण भी चंचल और अशान्त बन जाते हैं। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति भी उस समय उस अशांति को मिटाने में लगा दे तब भी कथंचित् वह चित्त की चंचलता को नहीं मिटा सके ।

चित्त की चंचलता को उत्पन्न करने वाले इस प्रकार कुछ तो तात्कालिक होने से व्यक्त कारण होते हैं और स्पष्ट समझ में भी आ जाते हैं, किन्तु कर्म-संस्कारों के आधीन अन्य कारण अव्यक्त होते हैं जो बिना स्पष्ट चिन्तन के सरलता से समझ की पकड़ में नहीं आते हैं । सोचिये कि एक पुरुष किसी दूसरे के एक चांटा मार कर बैठ जाता है और वह ऐसे स्थान पर बैठता है जहां उसे कोई देखने वाला नहीं है । चांटा मारते समय भी तीसरा कोई देखने वाला नहीं था । अब चांटा मारने के बाद जब वह एकान्त स्थान

में बैठ जाता है फिर भी क्या वह अपने मन को स्थिर रख सकता है ? उसने अकारण किसी दूसरे के चांटा मारने का जो दुष्कर्म किया है तो अन्दर-ही-अन्दर वह विचारों के जाल में उलझता रहेगा । कभी अपने दुष्कर्म से खुश होगा तो कभी बदले के खतरे से चिन्तित और कभी अपने किये पर पश्चाताप भी कर सकता है । मन की चंचलता उसे सताती रहेगी और उसके परिणामों की धारा स्थिर नहीं बन पायेगी । दूसरी तरफ जिसके चांटा लगा है, वह भी अपने आपको स्थिर नहीं रख सकेगा । कभी उसे अपनी दुर्बलता पर ग्लानि होगी तो कभी वह प्रतिशोध की भावना से पीड़ित रहेगा । यह तो स्वयं एक कर्म करने की स्थिति हुई । उसके बाद यह सोचिये कि चांटा मारने वाला स्वयं तो चांटा नहीं मारता, लेकिन किसी दूसरे से चांटा रखवाता है तब भी दोनों पक्षों की मन की चचलता का हाल ऐसा ही रहता है बल्कि कोई चांटा लगा रहा होता है और उसका वह अनुमोदन भी करता है तब भी चंचलता का कारण तो पैदा हो ही जाता है ।

यह तो चंचलता के तात्कालिक कारण का एक रूपक दिया गया है जिसमें कोई कर्म स्वयं करने, करवाने या करते हुए का अनुमोदन तक करने के प्रभाव का वर्णन किया गया है । मन की चंचलता का कारण सामने ज्ञात होता है, फिर इस अशान्ति को रोकने के लिये भी कितने धैर्य, कितनी सहनशीलता और कितने विवेक की आवश्यकता होती है जिसे भी जुटाने के लिये कितनी साधना करनी पड़ेगी । फिर वर्तमान का भी यह तो एक साधारण-सा रूपक दिया गया है। ऐसे और इससे कई जटिल-से-जटिल रूपक प्रतिदिन

की चर्या में सामने आते रहते हैं और परिणामों को निरन्तर चंचल और अशान्त बनाते रहते हैं।

भूतकाल में अथवा पूर्व जन्मों में किसी ने न मालूम किस-किस प्रकार से मन के परिणामों को चंचल बनाने के कारण उपस्थित किये हैं, कर्म-वन्ध के रूप में जिनका सम्बन्ध इस आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। वे कारण तो स्मृति पथ से भी परे होते हैं। वर्तमान जीवन में कार्यों से कारणों का अनुमान लगाना तथा वैसे कारणों को भविष्य के लिये रोकना—यह चिन्तन का विषय होता है।

उदाहरण के तौर पर पूर्वजन्म में किसी ने जो काफी धनवान था, एक बहुत बड़ा मकान बनवाया। मकान बनवाने में आज भी पैसे वाले कितना रस लेते हैं—यह आप लोग देखते ही होंगे। यह नहीं सोचते कि यह जीवन कितना अस्थायी है और मृत्यु के बाद इस मकान से कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा, फिर वह उस मकान का सम्बन्ध अपने मन से जोड़ता है, पचास तरह से उस मकान के लिये वह तरह-तरह की चिन्ताएँ करता है और परिणामों को चंचल बनाता है। वह सोचता है कि इस मकान में मैं पांचों आश्रव का सेवन करूं—आँख से अच्छा रूप देखूं, कान से थिरकता हुआ संगीत सुनूं, नाक से सुवासित पदार्थ सूघूं, रसना से स्वादिष्ट व्यंजन चखूं और स्पर्श से सुचिक्कण अनुभव लूं। करने, कराने और अनुमोदन करने का तीनों क्रियाओं का सम्बन्ध वह उस मकान से जोड़ लेता है। इसके बावजूद भी वह पक्का धार ले कि मैं मकान से कभी सम्बन्ध तोड़ूंगा ही नहीं तो क्या उसकी यह भावना सफल हो सकेगी?

किन्तु उसकी उस मकान में आसक्ति ऐसी हो जाती

है कि जब अन्तिमवेला में वह छूटता है तब भी उसका मन उस मकान में अटका रह जाता है। मृत्यु के वाद वह दूसरी योनि में चला जाता है और पूर्व का नक्शा भूल जाता है। किन्तु आसक्ति के वे संस्कार उस आत्मा के साथ लगे रहने से भावों में परिणति की चचलता आती रहती है । फिर चाहे उस मकान में वूचड़खाना चले या वेश्याओं का अड्डा अथवा पांचों इन्द्रियों के विषय चल रहे हैं तो वहां की सजातीय दृष्टि से ममत्व की भावना का पोषण यहां हो रहा है । वेश्यावृत्ति के पाप का लेखा भी मूर्च्छा भावना के अनुपात से उसके साथ रहता है । प्रत्यक्ष में तो वैसा दिखाई नहीं देता पर उस मकान में उसका मन आसक्तिपूर्वक लगा हुआ है । इसलिये अनन्त जन्मों के पूर्व में वह कार्य हो रहा हो तो भी उसके निमित्त से परिणामों की चंचलता कायम रहती है ।

विषय थोड़ा और स्पष्ट करने को आवश्यकता है । आप अपने वर्तमान जीवन की दृष्टि से देखिये । किसी व्यापारिक संस्था में आप हिस्सा डालते हैं शेयर खरीदते हैं तो विधिपूर्वक शेयर खरीद कर आपने उस संस्था से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया। अब आप वहां से हजारों मील की दूरी पर चले गये। उस संस्था में क्या हो रहा है—यह आपकी आँखों के सामने नहीं है तथा दूर जाते वक्त आपने उस संस्था में से अपने शेयर वापिस भी नहीं निकाले हैं । संस्था है, कभी मुनाफा तो कभी घाटा रहता है। समझिये कि पीछे से उसमें मुनाफा हुआ और कार्यकर्ता ईमानदार हुए तो आपके हिस्से का मुनाफा आपको पहुंचा देंगे और वे वेईमान हुए तो आपका हिस्सा हड़प कर जायेंगे। लेकिन

कदाचित् उसमें घाटा गया तो पाई-पाई का हिसाब वे आपके पास जरूर भेज देंगे। घाटा वसूली की सरकार वगैरह के माध्यम से कारंवाई भी करायेंगे तथा यह सिलसिला तब तक जारी रहेगा जब तक कि आप विधिपूर्वक उस संस्था में से अपना हिस्सा निकला नहीं लेते हैं।

यह हिस्सा तो फिर भी बाहर से आता जाता है। किन्तु मकान रूपी संस्था बनाई जाती है, उसमें मन के परिणामों का हिस्सा डाला जाता है। अब अगर वहां हिंसा हुई, वेश्यावृत्ति आदि के दुष्कार्य वहां हुए तो उसके हिस्से का पाप उस आत्मा को लगता रहेगा जिसने अपने उस बनाये हुए मकान में अपनी आसक्ति त्यागी नहीं है। उस सलग्नता से मन के परिणामों की चंचलता भी बराबर बनी रह सकती है। इस प्रकार के व्यर्थ के पाप-बन्धन एक जन्म के नहीं, पिछले अनन्त जन्मों के चलते रहते हैं।

तो मैं आपको संकेत दे रहा था कि जिसने इस जन्म में चांटा मारा है वह अपने मन को स्थिर नहीं रख सकता है तो किसी ने पूर्व-जन्म में किसी प्रकार का चांटा मारा है तो वह भी अपने परिणामों की चंचलता को मिटा नहीं पाता है। यदि विधिपूर्वक पूर्व-जन्मों के समस्त पापों से निवृत्ति कर ली जाय तो फिर वह पापों का हिस्सा उसको नही आता है।

अब इन सारे कारणों को यथावत् समझ कर मन के निग्रह का प्रश्न सामने आता है। जब कारण साफ हो तो कार्य का मार्ग भी साफ हो जाता है। अंधेरा या नासमझी ही ज्यादातर दुविधा के कारण होते हैं किन्तु जब हृदय में आकांक्षा भगवान् की भक्ति और सेवा की हो तथा उसमें

मन एकाग्र क्यों नहीं होता – उसके कारण समझ में आ जावें तब हिताहित की दृष्टि से परिणामों की चंचलता को मिटा कर उसे स्थिर व शांत बनाने की प्रेरणा व बल भी मिलता है। स्पष्ट ज्ञान एवं दृढ़ इच्छा के साथ फिर आगे का मार्ग स्वाभाविक रूप से बाधारहित बनता जाता है।

किन्तु जो लोग मन के चंचल परिणामों के आवेश में बह जाते हैं और अशांति तथा अस्थिरता की स्थिति में गोते लगाते रहते हैं, उनको जब तक उद्‌बोधक वातावरण नहीं मिले तब तक रास्ते पर लाना कठिन होता है। अस्थिरता में तब तक अस्थिरता बढ़ती ही रहेगी जब तक कि किसी शांत एव अचंचल विचार से उस स्थिति को समझकर उस अस्थिरता से मुक्त होने का दृढ़ प्रयास नहीं किया जाता है। मन के परिणामों का इलाज उन्हीं परिणामों से ही संभव है।

मन चंचल होता है तो कितना कि जिसका कोई लेखा-जोखा भी नहीं किया जा सकता है और मन एकाग्र होता है तो कितना कि बाहुबलि जी का शरीर मिट्टी और वनस्पति से ढक गया किन्तु उन्हें उसका पता तक नहीं चला। ऐसी है मन की विचित्र दशा! परिणामों की चंचलता पर यदि भगवान् संभवनाथ के दिव्य स्वरूप चिन्तन का नियंत्रण रखा जाय तो वे ही परिणाम गम्भीरता में परिवर्तित किये जा सकते हैं। मन ही मनुष्यों के बंध और मोक्ष दोनों का कारण होता है। अब जो संयमी व आत्म-निग्रही पुरुष होते हैं वे उसी मन को मोक्ष का कारण बना लेते हैं।

[मन्दसौर, दिनांक ७–८–६१]

अभय बनो, निर्भय बनो !

संभवदेव ते धुर सेवो सेवे रे
लही प्रभु सेवन भेद ।
सेवन कारण पहली भूमिका रे
अभय अद्वेष अखेद ।

भगवान् संभवनाथ की प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण इन दिनों चल रहा है और यह समझने का यत्न किया जा रहा है कि प्रभु की सेवा का भेद क्या है तथा उसकी भूमिका निर्माण में प्रमुख बिन्दु कौन-कौन-से हैं ? उसका पहला बिन्दु है अभय होना । भय का अर्थ है मन के परिणामों की चचलता तो अभय अवस्था उन परिणामों की चंचलता के अभाव को कहेंगे । परिणामों की चंचलता को रोक कर उस अभय अवस्था को प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय यही हो सकता है कि उन परिणामों के स्वरूप को भलीभांति समझा जाय । इसी आधार पर उस चंचलता पर निग्रह करना संभव हो सकता है ।

इस शरीर के पिंड में मुख्य तौर पर तीन तत्त्वों की प्रधानता है । इसी शरीर के ढांचे में पांच इन्द्रियां भी आ

जाती हैं । शरीर के बाह्य रूप की दृष्टि से कान, आंख, नाक, जीभ व स्पर्श सबको दिखाई देते हैं, किन्तु जिसको सूक्ष्म शरीर की संज्ञा दी जाती है, उसका सीधा सम्बन्ध आत्मा के साथ जुड़ा हुआ होता है। आत्मा के साथ सम्बन्धित इस सूक्ष्म शरीर की जो स्थिति है उसके तथा स्थूल शरीर के बीच में जो अग प्रधान रूप से परिणामों के संचालन में माध्यम होता है उसे द्रव्यमन की संज्ञा दी जाती है । यह द्रव्यमन भी पुद्गल परमाणु याने मेटर द्वारा निर्मित होता है । यह द्रव्य मन अनेक विषयों को ग्रहण करने का माध्यम बनता है और अन्दर में कार्य करता है। अन्दर में इस द्रव्यमन से भी परे तथा सब से अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व जो है वह आत्मा का है । इस प्रकार तीन तत्त्वों की स्थिति इस रूप में लेंगे—

(१) बाह्य शरीर का ढांचा जो ऊपर से दिखाई पड़ता है अथवा प्रत्यक्ष रूप से अनुभव में आता है ।

(२) आत्मा की स्थिति जो जीवन और शरीर का मूल धारक कर्त्ता तत्त्व है ।

(३) इन दोनों तत्त्वों के बीच में कार्य करने वाला द्रव्यमन ।

इन तीनों तत्त्वों में मुख्य स्थान आत्मा का है। क्योंकि यह आत्मा ही ज्ञान एवं चैतन्य तत्त्व का धनी होता है, जिसके लिये भगवान् महावीर ने श्री आचारांग सूत्र में निर्देश फरमाया है—

"जे आया से विन्नाया,
जे विन्नाया से आया ।"

अर्थात्—जो आत्मा है वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है । इस समस्त चराचर जगत् में विशेष ज्ञान को धारण करने वाली आत्मा ही होती है और इसीलिये इस पद की पुनरावृत्ति करते हुए कहा गया है कि जहां कहीं भी विशेष ज्ञान की स्थिति दिखाई दे, समझिये कि वहां आत्मा है । ज्ञान-विज्ञान, चैतन्य और आत्मा– ये सब पर्यायवाची तत्त्व हैं आत्मा को इसी कारण ज्ञान-स्वरूप कहा जाता है । आत्मा ज्ञानशक्ति की पुंज होती है ।

वह आत्मा का तत्त्व इस शरीर के अन्दर प्रधान रूप से रहा हुआ है । जो इसी तत्त्व की प्रेरणा है, वही शरीर को शक्ति होनी है । यही शक्ति इस प्रत्यक्ष संसार में विविध रूपों में प्रस्फुटित होती रहती है । जिस प्रकार सूर्योदय के साथ ही सूर्य की किरणें चारों ओर इस व्यापक रूप से फैल जाती हैं कि उनका आदि अन्त या उनकी सीमा नहीं रहती, उसी प्रकार आत्मा द्वारा शरीर धारण के साथ ही उसकी अनन्त शक्तियां असीम रूप के इस प्रकार फैल जाती हैं कि यदि कठिन साधना से उनका सम्यक् प्रकारेण विकास किया जाय तो वह असीम रूप व्यक्त भी हो जाता है । आत्मा की वे आन्तरिक शक्तियां जब प्रकट होती हैं, तब वे किसी सीमा में आवद्ध नहीं हो सकती हैं । उनका पूर्ण रूप से विकास तो इतना व्यापक और विशाल होता है कि वह आत्मा सम्पूणतया ज्योतिर्पुंज बन जाती है ।

किन्तु वह व्यापक और विशाल शक्ति अनादि काल से आत्मा के शरीर के घेरे में आवद्ध होने के कारण दवी हुई रहती है । उस सुसुप्त शक्ति का इसीलिये बाहर

कोई प्रभाव नहीं दिखाई देता है। जब अन्तर् सो रहा हो तो बाहर उसका प्रभाव दिखाई ही क्या दे सकता है? वह दबी हुई अनन्त शक्ति प्रमुख रूप से भावमन के भीतर अव्यक्त पड़ी रहती है। ऐसी स्थिति में वह शक्ति भावमन की संज्ञा प्राप्त करती है। द्रव्यमन के साथ भावमन संयुक्त होता है। यह भावमन द्रव्यमन से जुड़कर इन्द्रियों को प्रेरित करता हुआ शरीर के ढांचे को परिणामों की दृष्टि से व्यवस्थित करने की सोचता है। उस भावमन और उसकी शक्ति की जिसने पहिचान कर ली और जिसकी वृत्तियां द्रव्य मन में उलझी नहीं और जो द्रव्यमन की दशाओं को समझ कर द्रव्यमन में रहे हुए अनेक प्रकार के संस्कारों को तटस्थ दृष्टि से देखने की आदत बना लेता है, वह निरन्तर के अभ्यास से द्रव्यमन के परिणामों की चचलता पर रोक लगाने में भो कामयाब हो जाता है।

भावमन के परिणामों के लिये प्रार्थना में ही संकेत दिया गया है—

भय चंचलता हो जो परिणाम नी रे
द्वेष अरोचक भाव।
खेद प्रवृत्ति हो करतां थाकीए रे
दोष सबोध लखाव।

वे परिणाम आपके खयाल में आये होंगे कि आत्मा की भावात्मक शक्ति ही एक प्रकार से परिणामों की चंचलता के लिये सबसे अधिक भय का कारण होती है। वह चंचलता सूक्ष्म शरीर याने कार्माणशरीर की बदौलत भी बनती है। इसके कारण बाहर के अन्य कई प्रकार के विषय भी हो सकते हैं। इन सब कारणों से पैदा हुई चंचलता का

आत्मा की परिस्थिति पर यह प्रभाव पड़ता है कि कोई भी स्वस्थ रीति से सन्तुलन बनाये नहीं रख सकता है। इस तरह के सन्तुलन के अभाव में मनुष्य का अभय या निर्भय बन पाना संभव नहीं हो सकता है।

भय के सम्बन्ध में कुछ विवेचन और समझने को रह गया है। भय के निमित्त-सम्बन्धी काल की दृष्टि से तीन अवस्थाएं कही जा सकती हैं। ये साधारण रूप से माने जाने वाले काल ही हैं—भूतकाल, वर्तमान और भविष्य। इन तीनों काल में रहती हुई आत्मा जिन–जिन प्रकार के भयों के निमित्तों का सर्जन करती है, उन सर्जनात्मक संस्कारों के कारण भी चित्त की चंचलता का ढलान होता है। तीनों काल के सर्जनात्मक संस्कारों में आत्मा का आवागमन होता रहता है। भूतकाल में किसी आत्मा ने किस–किस प्रकार से क्या–क्या किया, इसका व्यक्त ज्ञान वर्तमानकाल में कठिनता से ही मिलता है। वर्तमानकाल की अवस्था में आत्मा के द्वारा क्या–क्या कार्य किस-किस रूप में बन रहे हैं—इसका भी स्मृति के साथ सम्बन्ध है। कई बार ये रूप ध्यान में रहते हैं और उनकी समीक्षा करके उनसे सार धर्म का संचय किया जा सकता है तथा कई बार वर्तमान के रूप भी विस्मृति के गर्त में दब जाते हैं। कभी–कभी पूर्व-जन्म के कार्यों का भी वर्तमान जीवन के साथ संयोग बन जाता है इस तरह के संयोग से परिणाम चंचल होते रहते हैं। जब तक इन परिस्थितियों के सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार-विमर्श न किया जाय तब तक इस चंचलता से मन को स्थिर भी नहीं किया जा सकता है।

आप मोटे रूप में इस प्रक्रिया को इस दृष्टान्त से

समझ सकते हैं । कल्पना करें कि एक सुन्दर बंगला है, जिसकी पांच खिड़कियां पांचों तरफ से खुली हुई हैं। किन्तु बंगले का मालिक फिर भी किसी भी दिशा से धूल को बंगले में आने देना नहीं चाहता है । सभी ओर की सभी खिड़कियां खुली भी रहें और बंगले में धूल नहीं आवे–यह भी एक समस्या की ही वस्तुस्थिति है । परन्तु भूमि से धूल को अपने आंचल में भर कर आंधी ऊपर उठती है और खिड़कियों के माध्यम से बंगले में धूल को लेकर पहुंच जाती है । मकान का मालिक हैरान होता है कि कैसे इस धूल को अन्दर आने से रोके ? बताइये, वह क्या करे ? क्या खिड़कियों को बन्द कर दे या खुली रखे ? शायद वह पहले खिड़कियां बन्द करेगा और फिर अन्दर इकट्ठी हुई धूल को साफ करना चाहेगा । कदाचित् उसे गर्मी लगती हो और वह एकाध खिड़की खुली रखे कि हवा भी आवे और धूल कम-से-कम अन्दर आ सके । ऐसा करे तो वह मकान-मालिक बुद्धिमान कहलायगा या नहीं ?

दूसरे प्रकार से यह कल्पना करें कि वह मकान मालिक धूल का अन्दर आना तो पसन्द नहीं करता किन्तु हवा की भी उसे ज्यादा जरूरत नहीं रहती तब भी वह पांचों खिड़कियों को खुली रखकर बैठता है और वैसी ही अवस्था में जल्दी-जल्दी झाड़ू लगाता हुआ धूल भी साफ करता है । तो क्या वह उस बंगले को साफ कर पायगा क्योंकि जितना वह साफ करता है उससे अधिक धूल आंधी के जरिये अन्दर आती रहती है । आप उसे बुद्धि के बारे में क्या सर्टिफिकेट देंगे ?

अब सोचिये कि यह बंगला शरीर का है । इस बंगले

में रहने वाली उसकी स्वामिनी रूप आत्मा है जिसके संबन्ध में तीसरे तत्त्व के रूप में ऊपर उल्लेख किया गया है। इस स्वामिनी आत्मा ने अपने बंगले की पांचों इन्द्रियां रूप पांचों खिड़कियों को खुली रख छोड़ी है तो स्वाभाविक है कि व्यर्थ की धूल, दूर की आंधी और तूफान में उड़ते हुए कण जो कि अनन्त जन्मों के पाप रूप हैं, आत्मा के साथ आकर उससे चिपक जाते हैं। इस आबद्धता से आत्मा की मलिनता निरंतर बढ़ती ही रहती है। यही मलिनता एक ओर जहां आत्मा के वास्तविक स्वरूप को विकृत बनाती रहती है तो दूसरी ओर यह आत्मा को उसकी सही चेतना से हटाकर मन की चंचलता में डुबो देती है। एक बार इस मलिनता को अनन्त जन्मों का सिलसिला न भी मानें तब भी वर्तमान जीवन की मलिनता का संचय भी क्या कोई कम होता है? किन्तु मलिनता के सम्बन्ध में सही ज्ञान का अभाव होने से पांचों इन्द्रियों के विषय जब उन्मुक्त रूप से भोगे जाते हैं तब यह कैसे संभव है कि वासनाजन्य वह मलिनता आत्मा से संबद्ध न हो?

पांचों इन्द्रियों के विषयों को खुला रखने या बन्द करने की स्थिति को भी समझ लेना चाहिये। इसका यह तात्पर्य नहीं मान लिया जाय कि जैसे आंख है तो उसको खुली रखना या कि उस पर पट्टी बांध कर उसे बन्द कर देना या इसी तरह अन्य इन्द्रियों के विषय में कार्य करना। पांचों इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं और उनको उन्मुक्त उन में छोड़ने का मतलब है कि वे अंधी होकर अपने विषयों के भोग भोगने में लगी रहें। आंख है तो उत्तेजक नृत्य दृश्य देखने से हटे ही नहीं— महफिलें जुड़ी ही रहें। कान

हैं तो संगीत की थिरकती धुनों से एक पल भी क्यों हटें ? इसी प्रकार नाक, मुंह और स्पर्श भोग अवस्था में डूब जांय तो यह उन्मुक्त स्थिति इन्द्रियों को अधिकाधिक वासनाजन्य विकारों में डुबोने वाली बनती है ।

अब यदि इन्द्रिय-निग्रह द्वारा मन-निग्रह की ओर जाना है और इन उपायों के द्वारा परिणामों की चचलता को समाप्त करके अभय एवं निर्भय बनाना है तो पहले इन पांचों खिड़कियों को बन्द करना होगा याने पांचों इन्द्रियों को विषयों में रमण करते हुए रोकना होगा । वर्तमान में आती हुई धूल के रुक जाने का यह अर्थ होगा कि अब समस्या उसी धूल को साफ करने की है जो पहले से इकट्ठी हुई पड़ी है जब कि खिड़कियां खुली थीं । इसलिये भाव मन तब द्रव्यमन के माध्यम से पूर्व जन्मों के पापों की विधिपूर्वक रोक लगाना आरम्भ करता है । यह निरोध दोनों कालों में चलना चाहिये । वर्तमान जीवन की अवस्था पर भी निग्रह किया जाय तथा भूतकाल के संचित पापों को समाप्त करने के लिये भी तदनुसार तपस्या व साधना की जाय । क्योंकि संसार के अन्दर रहते हुए वर्तमान जीवन से सम्बन्धित सार्वजनिक कार्यों के पाप का भाग भी बिना व्रत, प्रत्याख्यान के खुला रहता है । इसका अर्थ है कि वर्तमान में जितने भी सार्वजनिक स्थान हैं उन स्थानों में जो कुछ भी आरम्भ समारंभ हो रहा है, उनका व्यक्ति भले ही स्वयं प्रयोग न करता हो – फिर भी जन्म के साथ ही उन सार्वजनिक कार्यों के साथ सम्बन्धित होने से उनके पाप से भी वह बंधता रहता है ।

उदाहरण के तौर पर अपने ही घर को ले लीजिये ।

घर में किसी नये सदस्य का जन्म हुआ तो वह उस घर में रहे हुए पदार्थों का भागीदार हुआ या नहीं ? वह पहले तो नहीं था, किन्तु अपने जन्म के साथ ही हो गया। चाहे वह अपने अधिकार के भाग को काम में ले या नहीं–उसके अधिकार में कोई शंका नहीं मानी जा सकती है। अगर बाद में घर की सम्पत्ति में वृद्धि होती है तो उसका भाग भी बढ़ता है, यद्यपि उस वृद्धि में उसकी कोई सक्रियता नहीं होती और घाटा जाता है तो उसका प्रभाव भी उसके भाग पर पड़ता है। जैसे परिवार में जन्म लेने वाला सदस्य घर में जितने पदार्थ हैं उनमें अपने भाग के अनुसार भागीदार बनता है, उसी प्रकार जिस देश में वह जन्म लेता है, उसका भाग उसमें भी होता है। देश को भी एक बड़े परिवार का ही रूपक मानना चाहिये। देश की सम्पत्ति एक तरह से सार्वजनिक मानी जानी चाहिये और उसमें से प्रत्येक देश-वासी अपनी योग्यता, आवश्यकता एवं न्यायिक वितरण के अनुसार अपना भाग प्राप्त करे। देश में जन्म व राष्ट्रीयता का धारक हर व्यक्ति का राष्ट्रीय सम्पत्ति के उपयोग में अपना हिस्सा पाने का अधिकार होना है। विशाल दृष्टि से देखें तो देश की ही यह स्थिति नहीं है, बल्कि विश्व नागरिक होने के नाते प्रत्येक मनुष्य का विश्व की सम्पत्ति में भी एक अधिकार माना जाता है। यह अधिकार इस प्रकार सभी स्तरों पर उसके नाम के साथ जुड़ा रहता है और इन सभी सार्वजनिक स्थानों की शुभ वा अशुभ प्रक्रियाओं का भागीदार उसे भी होना पड़ता है।

कोई मनुष्य कदाचित् यह सोचे कि मैं तो इस सारी भागीदारी में समझता ही नहीं, फिर उनके शुभ या अशुभ

हिस्से का भाग मुझे क्यों मिले ? किन्तु उसे यहां समझना होगा कि जैसा उसका परिवार है और उस परिवार पर कर्जा है तथा व्याज का भार बढ़ रहा है तो उसमें से उसका हिस्सा उसको चुकाना पड़ेगा या नहीं— चाहे उस कर्जे में उसका अपना कोई दोष न रहा हो । जैसे परिवार में जन्म लेने से ही एक बच्चे का हक कायम हो जाता है तथा घाटा होता है तब भी उसका भी उस पर असर पड़ता है । उस स्थिति में बच्चे का यह तर्क थोड़े ही चलता है कि उस समय मैं तो समझता ही नहीं था फिर घाटे का बोझ मुझ पर क्यों डाला जाय ? परिवार की सम्पत्ति में हिस्सेदार होने की वजह से अच्छाई हो या बुराई— दोनों में उसको अपना हिस्सा लेना ही पड़ेगा । संसार के अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों की भी यही स्थिति रहती है ।

प्रश्न हो सकता है कि भागीदारी के इस पाप से कोई कब छूट सकता है ? ऐसा तभी संभव है जब विचार एवं आचार के कुछ आवश्यक तत्त्वों की अवधारणा के साथ बाकी पर अंकुश लगाकर भावनापूर्वक अपनी भागीदारी उठा ले । जैसे परिवार का सदस्य घर के अन्दर आने वाली दीवालों की स्थिति को अग्रिम रूप से समझ कर पहले ही अपना भाग उठा ले तो यह कदम उसके लिये बुद्धिमानी का हो सकता है । वह सोचता है कि इतने दिन तक जो कर्जा चढ़ा सो चढ़ा, अब उसे आगे के लिये तो बन्द कर देना चाहिये । अज्ञात रूप से पाप की प्रक्रियाओं का जो उसका सम्बन्ध लगा हुआ था, उसे तोड़ कर जब वह उपना भाग उठा लेता है तो फिर वह उस सार्वजनिक पाप प्रक्रिया से सम्बन्धित नहीं रहता ।

वर्तमान जीवन सम्बन्धी पाप-प्रक्रियाओं पर रोक लगाने की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये ही मैं यह स्वरूप विवेचन कर रहा हूं। शास्त्रकारों ने श्रावकों के लिये पाँच प्रकार के अणुव्रतों का उल्लेख किया है। वह पहला अणुव्रत ग्रहण करे तो किस रूप में करे ? उसका पाठ है—

"तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाई जावज्जिवाए दुविहिं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा।"

उपासकदशांग सूत्र में भी वर्णन है कि जब गृहस्थाश्रम में रहने वाले बड़े भक्त श्रावक आनन्द जी भगवान् महावीर के चरणों में पहुंचे तभी वे संसार के स्वरूप एवं जीवन के स्वरूप की सभी सीमाओं को भलीभांति समझ सके। उन्होंने व्यर्थ के पापों को रोकने के लिये सबसे पहले पहला अणुव्रत ग्रहण किया। यह व्रत है अहिंसा का। अहिंसा अणुव्रत के रूप में उन्होंने अहिंसा को कितनी मात्रा में ग्रहण की ? वे समग्ररूप से हिंसा का त्याग नहीं कर पाये। गृहस्थाश्रम की स्थिति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने बड़ी याने स्थूल हिंसा का त्याग किया।

स्थूल हिंसा का तात्पर्य क्या है ? मनुष्य, पशु, पक्षी तथा सभी चलते-फिरते प्राणियों को त्रस जीव कहा जाता है जो कि किसी भी अन्य को देखकर त्रास पाते हैं भय से इधर-उधर जाते हैं व गर्मी से घबराकर ठंडक में और ठंडक से गर्मी में आवागमन करते हैं। ऐसे त्रस जीवों को संकल्प करके नहीं मारने का जो व्रत लिया जाता है, उसे स्थूल हिंसा का त्याग माना गया है। लेकिन इसके साथ त्रस जीवों में भी छूट रखी गई है कि मैं त्रस जीवों में भी जो निरपराधी हैं उनको नहीं मारूंगा। यदि कोई अपराध करने

वाला है तो उसके लिये त्याग नहीं है । अपराध भी कई तरह के होते हैं । परिवार मे रहने वाले सदस्य शांति से रहना चाहते हैं और पड़ोसी परिवारों के साथ हमदर्दी से रहते हैं, फिर भी कल्पना करें कि कदाचित् कोई विस्तार-वादी और आक्रमणकारी दुष्ट-भावना से पहले व्रत के धारक पुरुष पर आक्रमण करे तो उसको अपराधी माना जायगा। स्थूल हिंसा का त्यागी पहले उसे प्रेम से समझाने की चेष्टा करेगा—तीनों नीतियों का प्रयोग करने के बाद भी अगर वह नहीं माने तो फिर चौथी नीति दंड का प्रयोग करना उसके लिये बाधक नहीं होगा । दंडनीति को काम में लेते हुए यदि उसके सामने आक्रमणकारी को मारने का प्रसंग भी उपस्थित होता है तब भी उसके पीछे हटने की जरूरत नहीं रहती । उसके मन में मारने की अपेक्षा आत्म-रक्षण और आक्रान्ता को शिक्षा देने की ही भावना प्रबल रहती है । वह आत्म-रक्षा या परिवार-रक्षा की दृष्टि से ही उसको मारने के लिये बाध्य होता है । वह चाहता है कि आततायी मुझ पर आक्रमण नहीं करे तो मैं भी उसे दंड देने को तैयार नहीं हूं ।

अपराध की ऐसी ही स्थिति ग्राम, नगर और राष्ट्र की भी बन सकती है। सामाजिक न्याय का प्रश्न भी सामने आ सकता है और इसकी रक्षा के लिये भी अन्यायी को आततायी के रूप में देखा जा सकता है। हिंसा कभी अच्छी नहीं होती किन्तु आत्म-रक्षा या न्याय-रक्षा के लिये विवश होकर श्रावक को उसे अपनानी पड़े तो वह उसकी विवशता होगी । लेकिन हिंसा की आड़ में वह अन्याय और अपराध को सहन करे—यह समुचित नहीं माना गया है । पहले

अणुव्रत को ग्रहण करने वाला व्यक्ति वहां पर इस हिंसा की छूट रखकर ही त्याग करता है । निरपराधी को वह संकल्प करके कतई नहीं मारता है और अपराधी के लिये उसे छूट रहती है ।

यहां पर पाप की संलग्नता का विषय चल रहा है । जितनी खिड़की आपने बंद की, उतनी ही कम धूल आपके बगले में घुसेगी । निरपराधी की हिंसा का श्रावक ने जब सर्वथा त्याग कर लिया तो उसने एक तरह से यह खिड़की बन्द कर ली, लेकिन अपराधी को भी नहीं मारना और उसे भी क्षमा कर देना — इस स्तर की खिड़की को उसने अभी बन्द नहीं की है तो इस खिड़की के जरिये जो धूल अन्दर आयगी वह तो बंगले में जमा होगी ही ।

पहले अणुव्रत का धारक श्रावक वैसे साधारण रूप से तो अपराधी के लिये भी मारने की भावना नहीं रखता तथा जहां तक संभव हो वह हिंसा से बचना चाहता है तथा अन्य उपायों से ही आततायी को शिक्षा देने की भावना रखता है । हिंसा तो सिर्फ उसकी मजबूरी होती है । नीति-प्रयोग के इस सम्बन्ध में एक रूपक याद आ गया है । प्राचीन काल में एक नगर में चार साथी थे —एक राजकुमार, एक प्रधानपुत्र, एक श्रेष्ठिपुत्र और एक नाई का लड़का । चारों इतनी छूट में घूमते थे कि उन पर कोई नियंत्रण नहीं था । वे घूमते हुए एक माली के बाग में पहुंच गये । वे पके-पके फल खाने लगे तब तक तो माली शांत रहा किन्तु जब वे कच्चे-कच्चे फल भी तोड़ने लगे और बाग को नष्ट करने लगे तब उसने नीति के प्रयोग से संकट को टालने का निश्चय किया ।

माली उन चारों के सामने गया और बोला— राजकुमार, प्रधान-पुत्र तथा श्रेष्ठि-पुत्र तो बड़े हैं, वे कोई भी नुकसान करें तो यह उनका हक है लेकिन यह नाई का लड़का ऐसी गुस्ताखी कैसे कर सकता है, इसलिये इसको तो दंड देना ही पड़ेगा। तीनों चुप रहे क्योंकि उनका तो माली ने मान रखा था। तब माली ने नाई के लड़के को दूर ले जाकर बांध दिया और फिर इसी क्रम से उनमें वह फूट डालता रहा और एक–एक से निपटता रहा। इस प्रकार चारों ही आततायियों को बांध दिया। फिर वह राजा के पास पहुंचा और उसने कहा—महाराज, चार लुटेरों को मैंने अपने बाग में पकड़ कर बांध रखा है, आप चलकर उन्हें देखिये और दंड दीजिये। माली ने आग्रह करके प्रधान जी और सेठ जी को भी साथ में ले लिया। वहां पहुंच कर जब उन्होंने अपने ही उद्दंड पुत्रों को बंधे हुए देखा तो उन्हें प्रसन्नता ही हुई किन्तु उन्होंने माली से पूछा कि वह ऐसा साहसिक कार्य कर कैसे सका? इस पर माली ने कहा कि उसने अपने नीति–बल से ऐसा किया है।

तो कहने का अभिप्राय यह है कि पहले व्रत को ग्रहण करने वाला श्रावक जहां तक बने, अपनी नीति से तथा अपने बुद्धि–बल से आई हुई हिंसा का निवारण करता है किन्तु आक्रमण के सामने वह दीन-हीन बन कर झुक जाय और अन्याय को चुपचाप सहन कर ले— यह उसके लिये आवश्यक नहीं है। अपराधी को शिक्षा देने की भावना वह रखे, किन्तु हिंसा करने की भावना नहीं रखे।

श्रावक के इस पहले व्रत का इतना विवेचन इस दृष्टि से किया गया है कि अपनी व्रत सीमाओं में आकर आत्मा

पापों की खिड़कियां बन्द करती रहे और अन्दर जमी हुई धूल को भी साफ करती रहे। यह तो एक व्रत का वर्णन किया गया है इसी प्रकार के श्रावकधर्म के अन्य व्रत हैं और उस स्तर से ऊपर उठकर साधुधर्म के भी व्रत हैं, जिनकी सीमाओं में आत्मा जब अपने विचार व आचार को मर्यादित करती रहेगी तो उस परिणाम में मलिनता का अंश कम होता जायगा तथा उसी परिमाण में परिणामों की चंचलता भी घटती जायगी।

आत्मा की वासनागत मलिनता ही एक प्रकार से माना जाना चाहिये कि परिणामों की चचलता का मूल कारण है। इसके लिये तुलना की दृष्टि से एक दृष्टान्त को लीजिये। एक स्थान पर दो व्यक्ति बैठे हुए हैं— समझ लें वह कोई सार्वजनिक उद्यान है। एक बेंच पर दोनों बैठे हुए हैं। दोनों में से एक तो कहीं पर हत्या करके आया है और निर्दोष दीखने के हिसाब से सीधा-सादा चेहरा बनाकर वहां बैठा गया है। दूसरा अपने नियमित क्रम के अनुसार प्रातःकाल का भ्रमण करने आया है और वायुसेवन की दृष्टि से उस बेंच पर बैठ गया है।

इसी दौरान में पांच-सात पुलिस के सिपाही बेतहाशा भागते हुए उद्यान द्वार से अन्दर प्रवेश करते हैं और चोकन्ने होकर उसी बेंच की तरफ आगे बढ़ते हैं। अब दोनों व्यक्तियों की अपनी-अपनी मनोदशा की तुलना कीजिये। जो व्यक्ति हत्या के अपराध रूप तात्कालिक मलिनता से घिरा हुआ है, उन पुलिस के सिपाहियों को अपनी ओर बढ़ते समय उसके परिणामों की चंचलता कितनी अधिक होगी? बहुत संभव है कि वह कांपने लग जाय, भागने की कोशिश करे, किन्तु

यह तो उसका बाहरी आचरण होगा, पर मन की दशा या कि दुर्दशा तो केवली भगवान् ही जानें। उसके साथ ही बैठे हुए दूसरे व्यक्ति की मनोदशा में कोई परिवर्तन नहीं होगा बल्कि उसको इस बात का भी ध्यान नहीं होगा कि उधर पुलिस के सिपाही आ रहे हैं।

मनोदशा का इतना भेद इस प्रकार आत्मा की मलिनता पर आधारित रहता है। मलिनता जितनी अधिक होगी, परिणामों की चंचलता भी उतनी ही अधिक होगी और चंचलता जितनी अधिक होगी, भय व कायरता की मात्रा भी उतनी ही ज्यादा होगी। जहां भय है वहां भगवान् की सच्ची प्रार्थना सभव नहीं हो सकती है, इसीलिये भगवान् की सेवा की पृष्ठभूमि बनाने के निमित्त अभय या निर्भय होना पहली तैयारी बताई गई है।

अगर आपको सच्चे मन से भगवान् की प्रार्थना करनी है और उनकी सेवा का व्रत लेना है तो आवश्यक है कि आप अभय बनो, निर्भय बनो। इसके लिये आपको मूल स्थिति तक पहुंचना होगा और वह आपके सामने स्पष्ट है कि पांचों इन्द्रियों के वासना क्षेत्रों पर आप जितना अंकुश और दमन रखेंगे उतनी ही मलिनता आत्मा में कम प्रवेश करेगी। बाहर की मलिनता कम आवेगी या नहीं आवेगी तो फिर अन्दर पहले से संचित मलिनता को धोना भी आसान हो जायगा। इसी उपाय से आशा की जा सकती है कि आत्मा की सम्पूर्ण मलिनता एक दिन नष्ट हो जाय और अपने सम्पूर्ण निर्मल भावों में आत्मा का मूल स्वरूप निखर कर उज्ज्वलता से प्रकाशित हो जाय।

आत्मा की मलिनता और परिणामों की चंचलता के

परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्धों को आप समझ चुके हैं। जो जितना झूठा, उतना ही वह कच्चा होता है। मनोभावों की दुर्बलता आत्मा की कमजोरी से ही पनपती है तो वही व्यक्ति सत्साहसी बन सकता है जिसे अपनी आत्मशक्ति पर पूरा-पूरा विश्वास हो। आत्म-विश्वासी व्यक्ति ही स्थिरचित्ती भी होता है।

मनुष्य की आत्मिक विकास स्थिति का सच्चा मापदण्ड भी यही है कि वह शांति और संकट की तथा सम्पत्ति और विपत्ति की दोनों प्रकार की स्थितियों में अपना कैसा व्यवहार जताता है? नीति का कथन है कि "संपत्तौ विपत्तौ च महतामेकरूपता" अर्थात् सुख और दुःख दोनों में महापुरुषों की समानवृत्ति ही रहती है। महानता का आधार ही इस समानवृत्ति पर टिकता है और इस समानवृत्ति की उपज स्थिर, शांत एवं अचंचल भावों की धरती पर पैदा होती है। जो स्थिरचित्ती होता है वही अभय और निर्भय बनता है तथा निर्भय वृत्ति को सम्पादित कर लेने के बाद ही जीवन में एकरूपता स्थापित होती है। इस एकरूपता का चरम विकास ही आत्मा को उसकी चरम अवस्था तक पहुंचाता है।

इसलिये जीवन-निर्माण के लिये इस सूत्र को हृदयंगम किया जा सकता है कि अभय बनो, निर्भय बनो। जिसको अभय बनना है, उसे आत्मा की मलिनता स्वच्छ करनी ही होगी और परिणामों की चंचलता दूर करनी ही पड़ेगी और इस साधना से जो एक बार अभय और निर्भय बन जाता है, वह भगवान् संभवनाथ की सेवा के लिये अपने आपको पूर्ण योग्य भी बना लेता है।

[मन्दसौर—दिनांक ८—८—६६]

शक्ति का स्रोत कहां है ?

भय चंचलता हो जो परिणामनी रे
द्वेष अरोचक भाव ।
खेद प्रवृत्ति हो करतां थाकीए रे
दोष सबोध लखाव ।

भगवान् संभवनाथ की प्रार्थना की इन पंक्तियों का उच्चारण प्रतिदिन चल रहा है, किन्तु इस उच्चारण का उतना महत्त्व नहीं है, जितना उसके अर्थ से है । सच कहूं तो अर्थ से भी उतना महत्त्व नहीं, जितना स्वयं से है । पंक्तियों का उच्चारण और अर्थ आखिर किसके लिये है ? वह उच्चारण भगवान् के लिये नहीं, उसका अर्थ किसी अन्य व्यक्ति को सुनाने के लिये नहीं अपितु वह उच्चारण और अर्थ स्वयं को— स्वयं की आत्मा को सुनाने के लिये है । कहिये, स्वयं को सुनना है ? किससे सुनना है ? सुनने के भी कुछ साधन हैं । कौन से ? कानों को आप सुनने के साधन समझते हैं और इन्हीं से आप सुन रहे हैं । लेकिन यहां कानों का संकेत कानों तक ही सीमित नहीं है ।

वास्तविकता तो यह है कि कानों से सुनते-सुनते बहुत

समय हो गया, बोला भी बहुत समय से जा रहा है, फिर भी क्या कारण है कि भगवान् संभवनाथ के जीवन के आदर्श स्वयं के जीवन में अच्छी तरह उतर नहीं पा रहे हैं। इसलिये कान और जिह्वा के साधनों से आगे बढ़कर प्रार्थना के अर्थ को अपने अन्तर् मन को सुनाना है। मन के भी भाव-मन और द्रव्य-मन ये भेद बतलाये हैं। द्रव्य-मन तो सुन नहीं पाता – उसके पीछे श्रोता रूप में भाव-मन को ही जगाने की आवश्यकता पैदा होती है।

अब यह भाव-मन कैसे और किस अवस्था में सुन सकेगा ? भाव-मन में जब निर्भयता के भावों का संचार होगा तभी वह जागृत अवस्था में प्रार्थना के दिव्य भावों को सुन सकेगा। जहां तक अन्तर् में किसी भी प्रकार का भय समाया हुआ रहेगा तथा भय के प्रसंग से परिणामों की चंचलता बनी रहेगी तब तक भगवान् की सेवा का स्वस्थ धरातल बन नहीं पायगा। संसार जिसे बाहरी भय समझता है, हकीकत में वह अन्दर में ही पैदा होता है तथा अन्दर से ही विशाल रूप धारण करके बाहर विविध रूपों में प्रकट होता है। इसी कारण प्रार्थना में कहा गया है कि भय वही है जो परिणामों की चंचलता से उत्पन्न होता है तथा अन्य प्राणियों के साथ द्वेषपूर्ण एवं अरुचिकर विचार रखने के कारण फैलता है।

असल में जो परिणामों की चंचलता है, वही चंचलता भय का साधन बनी हुई रहती है। इसके रहते हुए प्रार्थना का सत्य-स्वरूप सत्य-निष्ठा के साथ नहीं समझा जा सकता है, इसलिये प्रधान आवश्यकता भय की स्थिति को दूर करने की रहती है। मन की चंचलता का हाल भी ऐसा है कि

जहां एक ओर उस चंचलता को समाप्त करने के लिये शमन के उपायों पर अमल शुरू किया जाता है तो दूसरी ओर चित्त को चंचल बनाने वाली नई-नई परिस्थितियां जन्म लेती रहती हैं। एक ओर इस चंचल घोड़े को पुचकार कर शांत करने का प्रयास किया जाता है तो दूसरी ओर भय की भावनायें उसके चाबुक लगा देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जितना मन का घोड़ा शांत नहीं होता उससे ज्यादा वह उस भय के चाबुक से अस्थिर हो जाता है। पहले ही उसको भारी चंचलता होती है और फिर चाबुक लगा दिया तो वह साधारण चंचलता से आगे बढ़-कर उछल-कूद करने की चंचलता दिखाना आरंभ कर देता है।

परिणामों की चंचलता को इस कारण दो मोर्चों पर सम्हालना जरूरी होता है। ये दोनों मोर्चे वर्तमान और भूतकाल से सम्बन्ध रखते हैं। एक तरफ वर्तमान में चित्त को चचल बनाने वाले कारणों से संघर्ष करते हुए उन्हें रोकने की क्षमता पैदा की जाय तो दूसरी तरफ भूतकालीन कारणों को नष्ट करते रहने की प्रक्रिया चालू की जाय। इन दोनों मोर्चों पर स्वयं को साथ-साथ लड़ाई लड़नी होगी और आप जानते हैं कि किसी भी लड़ाई में लड़ने और उसमें सफलता पाने की मुख्य कला अभय और निर्भय वृत्ति में समाई हुई रहती है। निर्भयता के बिना कोई भी लड़ाई सफलतापूर्वक लड़ी नहीं जा सकती है।

जब निर्भयता के अनुभावों का अभाव होता है तब भूतकाल और वर्तमाम की विभिन्न परिस्थितियों में से प्रवेश करती हुई चित्त की चंचलता आत्मा की स्थिरता पर तेज

आक्रमण किया करती है। वह आक्रमण इतना सांघातिक होता है कि स्वयं का बिना उचित तैयारी के सन्तुलन ही टूट जाता है और जब सन्तुलन नहीं रहता तो चंचलता की स्थिति का वेकाबू हो जाना आश्चर्य की वस्तुस्थिति नहीं रहती। फिर भय की नई-नई स्थितियां आग में घी का काम करती रहती हैं।

अधिकांश लोगों के चित्त की स्थिति अक्सर करके ऐसी ही वनती हुई दिखाई देती है। इनके चंचल परिणामों को महापुरुषों की जीवन-प्रेरणा से, प्रार्थना के माध्यम से अथवा सन्तों के उपदेश से स्थिर करके चित्त को अभय बनाने का निरन्तर प्रयास किया जाता है, किन्तु यह खेदजनक स्थिति है कि कई बार तो उपदेश के स्थल पर ही कई लोग अपने चित्त की चंचलता को इस कदर बढ़ा लेते हैं कि उपदेश का अंश भी वह ग्रहण नहीं करता है। सामने सन्त हैं फिर भी चित्त न जाने कहां-कहां भटकता रहता है। वैसी स्थिति में फिर चाबुक के समान कोई स्थिति आ जाती है तो वह अधिक चंचल बन जाता है। कौन-सा चाबुक? आपका यह बाहर का चाबुक नहीं, लेकिन आजकल के विज्ञान का चाबुक भी सामने आ गया है।

संसार की गतिविधियां इतनी तेजी से बनती और बदलती जा रही हैं कि आप अगर चित्त में पूरी स्थिरता तथा गम्भीरता के अनुभाव का निर्माण नहीं करो तो इन गतिविधियों को समझना और उनके अनुसार जीवन के आदर्शों को प्रभावशाली बनाना कठिन ही बना रहता है। इधर आप शास्त्रीय-तत्त्वों का विश्लेषण सुनकर आत्मा के स्वरूप एवं उसकी विकास-संभावनाओं पर विचार करने

लगते हैं तो उधर से आपके सामने समाचार-पत्र आ जाता है जो बताता है कि मनुष्य विज्ञान की प्रगति की ऊँचाइयों में चढ़ता हुआ ठेठ चन्द्रलोक तक पहुंच गया है । तो समझिये कि ऐसा शीर्षक पढ़ते ही जैसे चित्त को एक चाबुक लगा कि वह स्थिरता को छोड़कर पुनः चंचल बन जाता है । समाचार पढ़कर मन में प्रश्न उठने लगे— अब क्या होगा ? क्या हम भी सशरीर चन्द्रलोक में पहुंच सकेंगे ? क्या चन्द्रलोक से मंगलग्रह पर पहुंचने का प्रयास भी सफल बन जायगा ? इन सब बातों को लेकर मनुष्य अपने चित्त की चचलता को बढ़ाता रहता है, जिसका कुपरिणाम यह होता है कि आवश्यक स्थिरता के अभाव में वह किसी भी क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं कर सकता है ।

जब वह इन्हीं चंचलता के भावों में पड़ कर यह सोचने लगता है कि शास्त्र सच है या विज्ञान सच है ? वह शास्त्रों के तत्त्वों पर विश्वास करे या वैज्ञानिकों की उपलब्धियों पर ? तब भी वह उचित निर्णय लेने में अक्षम ही बना रहता है, क्योंकि सही निर्णय निकालने की स्थिर-चित्तता के रूप में क्षमता उसके पास नहीं होती है । वैसी मानसिक दशा में वह ऊपर–ऊपर से ही दृष्टि फैला लेता है और बाहर के नक्शों को लेकर ही चलता है, जिससे चित्त को न तो शांति मिलती है और न ही तात्त्विक दृष्टि से वह समुचित निर्णय ले पाता है ।

विज्ञान का विषय भी कोई नया नहीं है । जहां आत्मा की शक्ति को विकास का पथ दिखाने वाला शास्त्र है तो भौतिक शक्ति को अर्जित करने का रास्ता विज्ञान का है । शास्त्र जहां अनुभूत स्थितियों का सार रूप में

निचोड़ है तो विज्ञान नया अनुभव प्राप्त कराने वाले प्रयोगों का प्रारम्भ। दोनों का क्षेत्र इतना एक नहीं है कि दोनों में टकराव हो, बल्कि दोनों को एक दूसरे का पूरक मानकर चला जाय तो सही स्वरूप का दर्शन अधिक सरल बन जायगा। उदाहरण लें कि शास्त्र मानते हैं— वनस्पति में जीव होते हैं। अब इस तथ्य को प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वसु ने सिद्ध कर दिखाया तो दोनों के प्रमाणीकरण ने तथ्य को अत्यधिक माननीय तथा प्रभावशाली बना दिया।

धार्मिक क्षेत्र और वैज्ञानिक क्षेत्र के समन्वय की ओर इसलिये दोनों क्षेत्रों के लोगों का ध्यान जाना चाहिये। जहाँ धार्मिक पुरुष या वैज्ञानिक के विचार मेल नहीं खाते हैं, वहां उस दृष्टि से वैज्ञानिक के लिये और अधिक खोज, तलाश की गुंजाइश बनी रहती है। ज्ञानियों ने जो अपने ज्ञान में देखा, अनुभव से जाना— उन सत्यों का उल्लेख शास्त्रों में आता है, इनमें अधिकांश सत्य तो आत्मिक उन्नति से ही सम्बन्ध रखते हैं, बाकी संदर्भ की दृष्टि से जो अन्य विषयों का वर्णन आया है उसमें शास्त्रों में जो लिखा है वह धार्मिक क्षेत्र की दृष्टि से तो अन्तिम वाक्य है। अब उस विश्लेषण से जब वैज्ञानिक का निष्कर्ष भिन्न हो तब यह देखने की बात रहती है कि शास्त्रीय मान्यता में तो कोई अन्तर आयगा नहीं और वैज्ञानिक भले उस मान्यता में श्रद्धा न भी करे, किन्तु उसको आधार बना कर अपने प्रयोगों का सिलसिला तो वह जारी रख ही सकता है।

इस सन्दर्भ में विज्ञान की स्थिति भी समझने लायक है। विज्ञान सत्य के पहले छोर को पकड़ कर प्रस्थान करता है। अन्वेषण और अनुसंधान के बल पर वह चलता रहता

है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह सत्य पर ही चल रहा है। आज जो वह खोज सका है वह विज्ञान के लिये आज सत्य है। हो सकता है कल प्रयोग का परिणाम आज के सत्य को बदल देने वाला और नये सत्य को उद्घाटित करने वाला बन जाय। सत्य के अन्तिम छोर तक पहुंचाने का दावा भी विज्ञान नहीं करता, क्योंकि वह रास्ता बहुत लम्बा होता है तथा पदार्थों की स्थिति निरन्तर परिवर्तन-शील होती है। फिर जितना भी सत्य विज्ञान की सहायता से प्रकट होता है उसका बहुलांश जड़ तत्त्व—भौतिकता से सम्बन्धित होता है। वस्तुतः आत्मा याने चैतन्य विज्ञान का प्रयोग–विषय ही नहीं होता।

विज्ञान–विषय को भौतिकता कह दें तो आत्मा के विषय को आध्यात्मिकता कहा जाता है। ये दोनों विषय अपने आप में जितने स्वतन्त्र हैं तो उतना ही दोनों विषयों का परस्पर सामंजस्य भी बिठाया जा सकता है। वैसे दोनों की अपने–अपने क्षेत्रों में गति होती रहे तो दोनों में किसी संघर्ष का कोई सवाल नहीं, किन्तु यह भी सत्य है कि दोनों का सम्बन्ध मानव-समाज से है बल्कि समूचे प्राणी जगत् से है और दोनों का प्रचलन इस ज्ञात विश्व में है। यह विश्व क्या है? इसे जड़–जंगम का सम्मिलन स्थल ही तो कह सकते हैं। आत्मा तो निराकार होती है किन्तु उसका साकार रूप ही तब बनता है जब उसका तथा जड़ शरीर का मिलन होता है। आत्मा शरीरधारी के रूप में ही तो दृष्टिगत हो सकती है। संसार में मुख्यतः दो ही तो तत्त्व हैं— जीव और अजीव और दोनों के मेल से यह संसार चलता है।

जब जड़ और चेतन के मिलन से ही यह संसार है तो विज्ञान और धर्म दोनों संसार ही को तो स्वर्ग बनाने के लिये और प्राणी समाज की सर्वांगीण उन्नति करने के लिये आगे आते हैं । इस समय चेतन और जड़ का सम्मिलित रूप प्राणी ही तो दोनों का लक्ष्य—केन्द्र है, फिर इन दोनों के क्षेत्रों का परस्पर समन्वय क्यों संभव नहीं है । जहां निष्कर्षों में मतभेद भी हो वहां भी टकराव का कोई कारण नहीं है ।

इस मतभेद की मान्यता का एक उदाहरण लीजिये । पृथ्वी के पिंड को किस रूप में माना गया है ? वैज्ञानिकों का मानना है कि पृथ्वी भी पैदा होने वाला पिंड है। इसमें भी अलग—अलग मत हैं । एक मत इसे सूर्य का टुकड़ा मानता है । चन्द्रमा भी पृथ्वी पिंड का ही टुकड़ा माना जाता है । उनकी दृष्टि से पृथ्वी और चन्द्र दोनों चल हैं तथा सूर्य अचल है ।

शास्त्रीय दृष्टि इनके विषय में यह है कि पृथ्वी स्थिर है तथा सूर्य चल है। शायद इसके आधार पर ही वैज्ञानिकों ने अपना मत बाद में संशोधित किया है कि सूर्य भी सर्वथा स्थिर नहीं है । विज्ञान चूंकि किसी भी दिशा में अन्तिम वाक्य नहीं कहता तथा शास्त्र अन्तिम वाक्य ही कहता है, अतः विज्ञान ही के सामने विशेष अन्वेषण व अनुसंधान करने का क्षेत्र खुला रह जाता है ताकि नये—नये प्रयोग करने के बाद बहुत संभावना रहती है कि शास्त्रीय मत सत्य प्रमाणित भी हो जाय ।

धर्म और विज्ञान के भेद को कांटे का भेद माना जा सकता है और इस भेद को अगर अंध या हठदृष्टि से ही

स्वीकार किया जाय तो भेद की खाई चौड़ी हो जाती है। कांटे के भेद को भी समझने की जरूरत है। एक सोने-चांदी का व्यापारी है और दूसरा अनाज का व्यापारी है—दोनों के कांटे अलग-अलग किस्म के होते हैं। अब कोई अनाज सोने के कांटे से तोलने लगे तथा सोने को अनाज के कांटे से तो बाहर की नजर में भी दोनों का मेल नहीं बैठेगा। इसी नजर से आप देखें कि एक व्यक्ति बीमार हो गया। उसने अपनी रोग-परीक्षा एलोपेथी के डॉक्टर से कराई, वैद्य से कराई, हकीम से कराई, होमियोपेथ से कराई तथा नैचरोपेथ से कराई। अब उसी एक रोग के सम्बन्ध में निदान की दृष्टि से भी मतभेद हो सकता है, चिकित्सा के स्वरूप के सम्बन्ध में तो मतभेद होगा ही। भेद की नजर से तो इनके भेद को बड़े रूप में देखा जा सकता है लेकिन एक दृष्टि समन्वय की डालिये तो फिर मेल खाने वाले तत्त्व भी आपको दिखाई देंगे। आखिर सभी का लक्ष्य तो एक ही है कि रोग की चिकित्सा करना और इसमें यदि सभी पद्धतियों का सहयोग मिले तो क्या चिकित्सा क्षेत्र में विशेष प्रगति सम्पादित नहीं की जा सकेगी? उसी तरह शास्त्र और विज्ञान अगर मिल कर चलते हैं तो प्राणी-समाज की सर्वांगीण उन्नति के सम्बन्ध में ठोस उपाय खोजे जा सकेंगे।

किन्तु यह दुर्भाग्य का विषय है कि धर्म का नाम धराने वालों ने जरा-सा विज्ञान का नया प्रयोग सुना कि वे अपनी आस्था के परिणामों को चंचल बना लेते हैं और जल्दी से बहक जाते हैं व कहने लग जाते हैं कि शास्त्रों का मत ठीक नहीं है। जैसा कि मैंने बताया—शास्त्रों के हाथ में सत्य की डोरी का अन्तिम छोर है और विज्ञान के

हाथ में पहला छोर । अब दोनों में कहीं सामंजस्य नहीं बैठता है तो इसे विज्ञान को ही अपूर्णता मानकर चलना होगा । जब एक ही पदार्थ पर दो वैज्ञानिक भी अलग-अलग प्रयोग करते हैं और जब दोनों के प्रयोग परिणामों में अंतर आता है तब दोनों में से किसी एक को झूठा कहने का सवाल पैदा नहीं होता। प्रयोगरत व्यक्ति आज नहीं तो कल सत्यांश को पहिचानेगा। इस दृष्टि से आज वैज्ञानिक शास्त्र के निकट नहीं पहुंच पाया है तो कल विशेष विकास करके पहुंचेगा । वर्तमान स्थिति से दानों का टकराव भी नहीं मान लेना चाहिये और यह भी नहीं मान लेना चाहिये कि आज जो विज्ञान ने खोज निकाला है, वही पूर्ण सत्य है तथा शास्त्रों का निष्कर्ष असत्य सिद्ध हो गया है ।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि धर्म के क्षेत्र वाले इस प्रकार अपनी आस्था को जो हिलाने लगते हैं उसका भी मूल कारण चित्त की चंचलता ही है । यह चंचलता मनुष्य को गहराई से सोचने का मौका ही नहीं देती । इस चित्त की चंचलता को हटा कर जब किन्हीं संघर्षशील दो क्षेत्रों को भी देखेंगे तब उनमें आपको संघष की स्थिति से भी ऊपर समन्वय और सामजस्य के सूत्र दिखाई देंगे । वुद्धिवादोवर्ग में भा इस दृष्टि का अभाव हो, चंचलता का वातावरण अधिक दिखाई दे—यह विकासोन्मुखो स्थिति नहीं है । यह स्थिति इस सत्य को प्रकट करतो है कि वुद्धिवादीवर्ग में भी विचार की क्षमता कम है तभी वह विचलित होता रहता है। अतः इस दुर्बलता के प्रति सचेत होने की आवश्यकता है ।

इसके लिये स्वयं को प्रश्न पूछिये कि आखिर शक्ति

का स्रोत कहां है ? क्या वह कहीं बाहर से फूटेगा अथवा उसे अपने ही भीतर खोज कर निकालना होगा ? सच यह है कि स्वयं के पास अनन्त शक्ति है किन्तु वह नानाविध दुर्बलताओं से ढक कर दबी हुई है। यदि उसे प्रकट करना है और कार्यशील बनाना है तो इन दुर्बलताओं को जीतना होगा। करीब–करीब यह मानिये कि दुर्बलताएं चित्त की चंचलता से जुड़ी रहती हैं और उसी के बल पर वे स्वयं को घेरे रहती हैं। इन दुर्बलताओं की छाया में आत्मा शक्तिहीन-सी बनी रहती है जो न तो अपना विकास पथ ढूंढ़ने का विवेक ही जुटा पाती है और न उस पर चलने की क्षमता।

अतः इस शक्ति–स्रोत को बाधित करके इस आत्मा में ही चंचलता और दुर्बलताओं की चट्टानें आड़ी पड़ी हुई हैं। जब तक इन चट्टानों को हटाने की साधना सफल नहीं बनाई जायगी तब तक आत्मा की अपनी ही अनन्त शक्ति का स्रोत फूटेगा नहीं और उन्मुक्त होकर बहेगा नहीं। इसी शक्ति-स्रोत को प्रकट कराने के लिये भौतिक ज्ञान भी चाहिये और तात्विक ज्ञान भी चाहिये और दोनों का प्रयोग व्यापक हित में किया जाना चाहिये।

जब तक गहरे नहीं उतरें, बाह्य विषय भेद की दृष्टि से भौतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। मैंने अभी बताया कि चिकित्सा पद्धतियों में ही आयुर्वेद से होम्योपेथी मेल नहीं खाती हुई दिखाई देती है, तो प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धान्त न्यारा ही मालूम होता है। वह एलोपेथी की औषधियों को प्रतिक्रियात्मक कहता है और उन्हें विषरूप मानता है। फिर भी सभी पद्धतियां अपने अच्छे अंशों को पनपाती रहती हैं और परिपक्वता

प्राप्त करने के प्रयास करती रहती हैं।

मनुष्य शिक्षित हो जाता है, कई डिग्रियां प्राप्त कर लेता है, ऊँचे पदों पर भी बैठ जाता है, लेकिन उसकी प्रबुद्धता इस तथ्य पर आधारित रहती है कि उसने अपने चित्त की चञ्चलता पर कितना और कैसा नियंत्रण बनाया है? जब तक एक साधारण स्तर पर भी वह वैसा नियंत्रण नहीं बना पाता है तो शिक्षित होते हुए भी उसे प्रबुद्धता की दृष्टि से बालक ही कहना पड़ेगा। चञ्चलता का नाम बालक है और वह भी जब चंचल है तो बालक ही तो हुआ–आयु से न सही, बुद्धि से तो है ही। यह बालबुद्धि मनुष्य के शक्ति-स्रोत को प्रवाहित करने में अक्षम ही बनी रहती है।

मैं आपको आपकी अवस्था के अनुरूप कांटे पर तोलने की बात कर रहा हूं। वह कांटा हर इन्सान के जीवन में है और सबके पास है। जहां कहीं भी कोई तत्त्व आपके सामने आया उस पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने का अधिकार प्रत्येक को है। वह उस पर सोच सकता है और अपने मानस की उन्नति के अनुसार उस पर अपना निष्कष निकाल सकता है। चाहे बुद्धि अधिक तीव्र न भी हो किन्तु यदि मनोदशा में चंचलता न होकर स्थिरता और गंभीरता हो तो उसके निष्कर्ष अधिक वजनदार हो सकते हैं। अधिक बुद्धिशाली भी हो, लेकिन परिणामों की चंचलता भी अधिक हो तो न तो वह गहराई से किसी तत्त्व पर विचार ही कर सकता है और न सारपूर्ण निष्कर्ष ही निकाल सकता है। क्योंकि उसमें उत्तेजना अधिक होगी और उत्तेजित मन से किसी भी विषय का सम्यक् रूप से प्रतिपादन करना संभव

नहीं होता । गंभीर चिन्तन–मनन से ही विचार–मन्थन संभव होता है ।

यदि आपके सामने सामाजिक दृष्टि के प्रश्न हैं— सामूहिकहित की समस्याएं हैं तब उन पर चिन्तन–मनन जितना सामूहिक धरातल पर करने के बाद सबकी सहमति के रूप में जो निष्कर्ष निकलेंगे, वे उतने ही अधिक महत्त्व-पूर्ण एवं सबके अनुशासन तथा अधिकार की दृष्टि से सबको स्वीकार्य भी होंगे । किन्तु इस प्रक्रिया के विरुद्ध यदि कोई एक मनमाने ढंग से अपने ही निष्कर्ष सारे समूह पर थोपने को चेष्टा करे तो पहली बात तो यह कि क्या वह समूह यदि जरा-सा भी प्रबुद्ध हुआ तो उसे स्वीकार करेगा और अन्यथा भी क्या वह अधिनायकवाद का एक रूपक बन कर ही सामने नहीं होगा ? कोई भी विचार परिपक्व ही तब होता है जब उस पर एक व्यक्ति चिन्तन–मनन करे फिर समूह में एक दूसरे के उस पर अपने–अपने दृष्टिकोणों का आदान–प्रदान हो तथा चर्चा व मन्थन से उस विचार का निष्कर्ष प्रकट हो ।

किन्तु यह सारी प्रक्रिया कब संभव और सफल बन सकती है ? तभी जब चित्त की हर वक्त बनी रहने वाली चंचलता को समाप्त या मन्द की जा सके तथा हर विचार के प्रति एक धैर्यपूर्ण एवं सहिष्णु दृष्टिकोण बनाया जा सके। इस वृत्ति के साथ जब चिन्तन-मनन किया जायगा तो उसका मन्थन भी अच्छा होगा और मक्खन भी अच्छा निकलेगा । किन्तु इसके साथ ही अपने चिन्तित विचार के प्रति हठ या दुराग्रह से भरा हुआ रुख नहीं होना चाहिये वरना वह विचार जड़ हो जायगा । दूसरे चिन्तन की दिशा संभावित

ग्रनुमान के साथ चलनी चाहिये, निश्चयात्मक रूप से उसे पूर्ण सत्य समझ कर ही नहीं, क्योंकि पूर्ण ज्ञान के अभाव में वैसा समझना हठवाद का ही एक रूप होगा और हठ कभी सत्य के पास नहीं ले जाता।

पूर्ण सत्य को प्राप्त करने का जैन-दर्शन का महान् सिद्धान्त अनेकान्तवाद इसी दृष्टि से सहिष्णु ग्रपेक्षावाद पर आधारित है, जिसमें सभी के विचारों को जानने की जिज्ञासा है फिर सत्यांश पाने की सदिच्छा से सभी विचारों को परखने की बुद्धि है तथा सत्यांशों को जोड़कर पूर्ण सत्य का साक्षात्कार करने की गहरी आस्था है। सारी दार्शनिक विचारधाराओं का यदि कोई मूल लक्ष्य है तो वह यही कि चाहे व्यक्ति का जीवन हो अथवा समूह का जीवन—उसकी सफलता सत्य का साक्षात्कार करने में निहित है। सत्य ही भगवान् है और सत्य को पाना भगवान् को क्या, स्वयं भगवान् के पद को पा जाना है।

आप सोचते होंगे कि महाराज यह क्या-क्या बता रहे हैं? आप अस्पताल क्यों जाते हैं? जब कोई शारीरिक रोग हो जाता है, उसे मिटाने की इच्छा से आप वहाँ जाते हैं। रोग के कारण चित्त बेचैन हो जाता है इसलिये चिकित्सक की शरण लेनी पड़ती है। किन्तु जब मानसिक रोग हो जाय याने आपका मन आपके वश में न रहे तथा वह चंचलतापूर्वक बे-लगाम घोड़े की तरह इधर-उधर भागता फिरे तब भी क्या ग्रापको अपनी चिकित्सा कराने का भान होता है? ध्यान रखिये जब तक मन बीमार रहता है, शरीर कभी भी स्वस्थ नहीं बन सकेगा। इस कारण मैं आपको मन की बीमारी को ठीक करने के लिये ही यहां कुछ संकेत

दे रहा हूं ।

आपने मनोविज्ञान नाम के विषय के बारे में सुना होगा । यह विज्ञान मनुष्य के मन को समझ कर उसकी चिकित्सा का विधान करता है ; मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि प्रत्येक शारीरिक रोग की जड़ मानसिक बीमारी में होती है । इसलिये पहले मन को समझना होगा—उसके स्वास्थ्य व उसके रोगों को समझना होगा तथा पहले मानसिक चिकित्सा की ओर झुकना होगा । मानसिक दृष्टि की चंचलता को वे भी एक रोग के रूप में मानते हैं । एक घटना मुझे याद आ गई है कि एक बड़े घर की कोई १२ वर्षीय कन्या यकायक बीमार हो गई और चिन्ताजनक स्थिति में पहुंच गई । डॉक्टरों ने विविध प्रकार से परीक्षा की किन्तु किसी भी शारीरिक रोग का कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया । डॉक्टर भी हैरान, घरवाले भी हैरान कि आखिर है क्या जिससे इस बच्ची का जीवन ही खतरे में पड़ा हुआ है । उस समय पिता को एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सक का ध्यान आ गया और वह उसे बच्ची की वैसे गंभीर समय में चिकित्सा के लिये ले आया ।

उस मनोवैज्ञानिक चिकित्सक ने बच्ची के सारे हाल-चाल देखे जैसे कि वह उसके मन में झांक रहा हो—उसके छोटे भाई से सारी बातें की तब उसने प्रयोग करने का निश्चय किया । उसनें उसके छोटे भाई से कहा कि वह जिद करके अपनी बहन से बाहर चलकर गेंद खेलने के लिये कहे । छोटे भाई ने जब जाकर अपनी बहिन के क
यह बात बार–बार कही तो उसनें आंखें खोलीं और खुशी की एक लहर-सी बिखेरती हुई बोली— भैया, क्या तुम मेरे

साथ गेंद खेलोगे—सचमुच खेलोगे ? बच्चे ने बहुत ही स्फूर्ति से कहा—मैं जरूर खेलूंगा बहिन, चलो न ? और सब देखते ही रह गये कि आखरी घड़ियां गिनने वाली वह बच्ची उठकर मैदान में अपने भाई के साथ गेंद खेलने को चली गई है और गेंद खेल रही है ।

यह नक्शा कैसे बना ? आपने कुछ विचार किया ? बच्ची का भाई के साथ झगड़ा हो गया और भाई ने भारी उपेक्षा से उसके साथ गेंद खेलने से मना कर दिया जिसका इतना गंभीर झटका बहिन के मन पर लगा कि जैसे वह एक ही क्षण में टूट गई । उसका मन क्या टूटा कि शरीर ही टूट गया। किन्तु याद रखें मन को स्वस्थ्य बनाने में भी अधिक समय नहीं लगता यदि उसका विवेकपूर्ण उपाय शीघ्र किया जाय । ये झटके भी मन की शक्ति के अनुसार लगते हैं । जैसे जिसके खून में जिस प्रकार के रोग रक्षक सफेद कीटाणु होंगे उसी के अनुसार शरीर में रोग निरोधक शक्ति होगी । वैसे ही मन जिसका जितनी शक्ति वाला होगा उसी तरह उसकी सहिष्णुता भी बनेगी ।

इसी कारण यह बुनियादी सिद्धान्त माना गया है कि शक्ति का स्रोत कहीं बाहर नहीं है. वह तो आपके मन और आपकी आत्मा के भीतर ही अवरुद्ध पड़ा है । परिणामों की इस चंचलता को छोड़कर धैर्यपूर्वक पराक्रम दिखाइये और फिर देखिये वह शक्ति का स्रोत भीतर से फूटकर कितनी अपार किन्तु लोक-कल्याणकारी शक्ति का आनन्दानुभव आपको देता है ? मानसिक चंचलता की परिणति को समाप्त करने की दृष्टि से कोई भी विख्यात व्यक्ति, वैज्ञानिक या विद्वान्—चाहे वह कितनी ही प्रतिष्ठा अथवा उपाधियों से विभूषित

हो— तब तक अधूरा ही कहलायगा जब तक कि वह अपने चित्त की उस चंचलता को समाप्त करने की कोशिश में न लगा हो जो पल—पल पर उसकी शक्ति को खंडित करने की घात में लगी रहती है । जहां सभी प्रकार की दुर्बलताओं की जड़ चित्त की चंचलता है तो वहां चित्त की स्थिरता, गंभीरता एवं वैचारिकता से आत्मिक-शक्ति के स्रोत को ही प्रकट नहीं किया जा सकता, बल्कि उस शक्ति के अनन्त स्वरूप को भी प्रकाशित किया जा सकता है ।

स्वयं को भगवान् संभवनाथ की प्रार्थना बार-बार सुनाइये— उसके उच्चारण व अर्थ को हृदयंगम कीजिये तब आस्था के साथ आपकी प्रतीति इस दिशा में अवश्य बढ़ेगी कि आपका 'स्वयं' जाग रहा है— वह एक नई शक्ति के साथ करवट ले रहा है तथा वह नई शक्ति यही होगी कि आपका मन परिणामों की चंचलता की पीड़ा से धीरे-धीरे मुक्त हो रहा है और उसमें चिन्तन और मनन की गंभीरता प्रवेश कर रही है । ज्यों-ज्यों यह गंभीरता बढ़ती है, शक्ति की अनुभूति भी बढ़ती हुई चली जाती है । तब वैचारिकता एवं भावना की दृढ़ता इतनी ऊँची उठती हुई चली जाती है कि फिर उस आत्मा में असंभव को भी संभव कर दिखाने का पराक्रम प्रस्फुटित हो जाता है ।

यह शक्ति जब जागृत होती है तो वह संकल्प-सिद्ध बनती है । "कार्यं वा साधयामि, देहं वा पातयामि" के निश्चय के साथ वास्तव में ऐसे महान् पुरुष सफलता को ही प्राप्त करके रहते हैं अथवा जीवन का ही बलिदान कर गुजरते हैं । ऐसे दृढ़ संकल्पी लोगों की शक्ति पर ही सारे संसार की शक्ति टिकी हुई है। ऐसे लोग जब संसार के क्षेत्र

में काम करते हैं तब भी भौतिक सफलताओं को प्राप्त करके लोक कल्याण के द्वारों का वे अनावरण करते हैं तथा जब वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र के मोक्ष मार्ग पर अपने चरण आगे बढ़ाते हैं तब भी वे अपने दिव्य जीवन से युगों-युगों तक अक्षुण्ण रहने वाला आत्मोद्धारक प्रकाश इस संसार में फैला जाते हैं।

है आपको मेरे कहने पर विश्वास? है आप को अपने स्वयं पर विश्वास? है आपको अपने भीतर छिपे हुए शक्ति के स्रोत पर विश्वास? होगा कि नहीं ऐसा विश्वास—यह आपका मन ही जानता है किन्तु इस सत्य को बराबर याद रखिये कि ऐसा विश्वास तभी पैदा होगा और पुष्ट बनेगा जब आपका चित्त अभय और निर्भय होगा। इस निर्भयता का उद्गम, आप जान चुके हैं कि चंचलता को काटने के बाद प्राप्त स्थिरता, गंभीरता और गूढ़ वैचारिकता से निकलता है। इस प्रकार जो विश्वास आपको अर्जित होगा, वही आपको स्वयं के शक्ति-स्रोत से परिचित करायगा।

श्रेष्ठिकुमार जम्बू की धर्मकथा आप जानते हैं। विवाह के बाद पहली रात्रि को ही आठ-आठ पत्नियों के सौन्दर्य एवं हास-विलास के सामने भी उन्होंने अपने चित्त को तनिक भी चंचल नहीं होने दिया। तो समझने की बात है कि द्वेष हो या राग की स्थिति—आकर्षण की हो या संकट की घड़ी—यदि आप अपने चित्त की स्थिरता को बनाये रख सकते हैं तो भगवान् की सेवा भी निष्ठापूर्वक कर सकते हैं। इसीलिये कहा है—

"धार तलवार नी सोहिली दोहिली,
चउदधा जिनतणीं चरणसेवा।

धार पर नाचता देख बाजीगरा,
सेवना धार पर कहे न देवा ॥"

प्रभु की सेवा का यही सबसे बड़ा भेद है। जो इस भेद को पाकर अपने अन्तर् में निहित शक्ति-स्रोत को पकड़ लेता है, वही अपने व जगत् के जीवन को मंगलमय बना सकता है।

[मन्दसौर—दिनांक ६-८-६६]

राष्टधर्म की महत्ता

संभवदेव ते धुर सेवो सवे रे
लही प्रभु सेवन भेद ।
सेवन कारण पहली भूमिका रे
अभय अद्वेष अखेद ।

भगवान् संभवनाथ की प्रार्थना की पंक्तियां के नित प्रति चिन्तवन का यह परिणाम स्पष्ट रूप से सामने आना चाहिये कि परमात्मा का परम निर्मल, परम सोमा की स्थिति का अवस्थान, उनकी अडोल शक्ति. अविचल निष्ठा जहां ज्ञान की कोई सीमा नहीं, सुख का अन्त नहीं, परम आत्मिक ऐश्वर्य से युक्त, परम कल्याणमय, परम आत्मा का दिव्य स्वरूप प्रतिदिन हृदय को आलोकित करता रहे ।

आज के इस वैज्ञानिक युग में जितना ध्यान जड़-तत्त्व की ओर दिया जा रहा है, उससे अधिक ध्यान चैतन्य-तत्त्व आत्मा को ओर दिये जाने की प्रबल आवश्यकता है। जड़ तो नाशवान् और परिवर्तनशील तत्त्व होता है और उसके विकास से अधिकांशतः भौतिक सुख, समृद्धि में ही वृद्धि की जा सकती है, यद्यपि इस विकास से भी अभी तक सारे

संसार को नष्ट कर देने की शक्ति रखने वाले शस्त्रास्त्रों का ही विकास अधिक हुआ है, किन्तु चैतन्य तत्त्व के चिन्तन और अनुशीलन से न सिर्फ संसार के सुखपूण वातावरण का भावना एवं चरित्रमय ठोस आधार ही बनाया जा सकता है बल्कि वैसे प्रोत्स हक धरातल पर व्यक्ति की सहज वृत्ति को भी अच्छी तरह पनपाई जा सकती है ।

जीवन के आन्तरिक रहस्यों को खोज निकालने वाली कलाओं का विकास नाशवान् तत्त्वों के अवलम्बन से साधा जाना संभव नहीं होता। उनके विकास के लिये तो भगवान् का आदर्श स्वरूप ही हमारे समाने रहना चाहिये। ये नाशवान् जड़ पदार्थ तो चिरस्थायी रूप में नहीं रह पाते बल्कि नितप्रति बनते, बदलते और बिगड़ते रहते हैं । पुद्गल का तो स्वरूप ही ऐसा है । अब यदि आत्मा एवं जीवन के विकास के लिये भावनाओं से दूर सिर्फ भौतिकता का ही आधार पकड़ा जाय तो वैसी हालत में जीवन को भी मशीनवत् बनाकर नाशवान् याने चंचलतापूर्ण स्थिति में हो डाल देने के समान हो जायगा ।

वास्तव में चेतना का सत्पथ पर गतिशील होना ही जीवन के सम्यक्-विकास का श्रीगणेश होना है । जीवन में चेतना जागेगी तो वह स्वयं को सुधारेगी और स्वयं के सुधार का प्रभाव ग्राम, नगर और राष्ट्र की सीमाओं तक ही नहीं, उनसे भी आगे प्रसारित करेगी । विश्व या राष्ट्र का सबसे छोटा घटक व्यक्ति ही तो है और वही व्यक्ति छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े समूह का आधार होता है । सम्पूर्ण विश्व या मानव समाज को अलग-अलग प्रकार के समूहों में ही तो बांटा और देखा जा सकता है । ये समूह

ही विविध क्रिया कलापों को चलाते हैं। इन क्रिया-कलापों में जितना समन्वय, जितनी समरसता होगी उतनी ही सामूहिक शक्ति के बल पर व्यक्ति-विकास की संभावनाएं सरल और उज्ज्वल बनती जायेंगी किन्तु यह समन्वय कोरी बाहरी कार्यवाहियों से पैदा होने वाला नहीं है। इसके लिये व्यक्ति-व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति का विकास होना चाहिये, उनका चारित्र निर्मल होना चाहिये तथा हार्दिकता का वातावरण घनिष्ठ एवं मृदुल होना चाहिये। अन्तर् के जीवन से जब ये सद्‌गुण व्यक्त होते हैं और इनका प्रभाव चारों ओर के वातावरण में फैलता है तभी सामूहिक जीवन में भी एक पवित्रताभरा परिवर्तन लाया जा सकता है।

समूह का आधार व्यक्ति ही होता है तथा व्यक्ति के जीवन–विकास से समूह प्रभावित होता है। यदि व्यक्ति का चरित्र उच्चतम बिन्दुओं तक समुन्नत बनता है तो उसका ऐसा नैतिक प्रभाव सारे समूह पर गिरता है कि एक स्तर तक समूह भी उस दिशा में ऊपर उठने के लिये प्रयत्नशील होता है। वैसी अवस्था में समूह की भी एक ऐसी शक्ति का उदय होता है जो व्यक्ति–विकास के सामान्य धरातल को समतल बनाती है। जहां समूह का सामान्य रूप से भी विकास नहीं होता, वहां व्यक्ति को अपने विकास का मार्ग स्वयं कांटों, पत्थरों और ऊबड़–खाबड़ जमीन में होकर निकालना पड़ता है। वैसी स्थिति में विकास की दिशा में आगे बढ़ने के लिये उसे अपनी काफी शक्ति लगानी पड़ती है। किन्तु जहां समूह का समुचित विकास उपलब्ध होता है, वहां व्यक्ति को अपने विकास हेतु गति करने के लिये सीधी सड़क मिल जाती है। इसी दृष्टि से व्यष्टि एवं

समष्टि का विकास अन्योन्याश्रित रहता है।

आधुनिक युग में समस्त प्रकार के समूहों में सर्वाधिक विकसित, व्यवस्थित एवं शक्तिशाली समूह राष्ट्र को माना गया है, इसलिये राष्ट्रधर्म की व्याख्या से नागरिक एवं राष्ट्र के पारस्परिक अधिकारों एवं कर्तव्यों के बोध के जरिये दोनों के पारस्परिक विकास का स्वरूप भी भलीभांति समझा जा सकेगा तथा इस प्रकार के विवेचन का ही दूसरा नाम राष्ट्रधर्म है। इसी के सन्दर्भ में राष्ट्र, ग्राम नगर, समाज आदि समूहों के प्रसंग में व्यक्ति या नागरिक के विविध धर्मों याने कर्तव्यों का लेखा-जोखा भी सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है।

यद्यपि राष्ट्र की राजनीतिक व्याख्या के अनुसार सीमाबद्ध भूमि, सर्वमान्य राज्य-तंत्र एवं एक राष्ट्रीयता का होना राष्ट्र के अस्तित्व के लिये आवश्यक है, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीयता है जो सभी नागरिकों की सम-भावना की आधारशिला पर टिकी हुई रहती है। किसी भी राष्ट्र की उसकी राष्ट्रीयता की भावना भूमि-रूप होती है तो उसका राष्ट्रधर्म प्रगति का पथ। राष्ट्रधर्म का स्वरूप और राष्ट्रयिता की भावना आसमान से नहीं टपकती बल्कि एक-एक नागरिक के हृदय में जागृत होकर फलती फूलती है तथा एक सामूहिक शक्ति के रूप में ढलती है।

राष्ट्रधर्म इस दृष्टिकोण से राष्ट्र में रहने वाले समस्त नागरिकों से संबन्धित होता है। व्यक्ति अपनी अन्तर्-चेतना को लेकर जिस भू-मंडल पर अपना अवस्थान रखता है, छोटे क्षेत्र के उन सभी व्यक्तियों का समूह मिलकर ही तो

ग्राम की रचना करता है। गांवों से ही व्यवसायिक, औद्योगिक एवं अन्य सुविधाओं के विस्तार की दृष्टि से नगरों का निर्माण होता है। चूंकि स्वतंत्र रूप से ग्रामों और नगरों का आत्मनिर्भर हो पाना सरल नहीं होता तथा दूसरे ये सब मिलकर जिस प्रकार की एकीकृत सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण करते हैं, उसकी रक्षा की दृष्टि से भी जो एक शक्तिशालो एवं समन्वित भूखंड बनता है, उसे ही राष्ट्र के रूप में देखा जाता है। किन्तु मूल रूप में राष्ट्र केवल भूमि नहीं, क्षेत्र विशेष नहीं बल्कि एक भाव विशेष ही होता है जो उसके पीछे चलने वालों को संस्कृति एवं सभ्यता के एक सूत्र में आबद्ध करके प्रगति की स्वस्थ एवं विशिष्ट दिशा की ओर मोड़ना चाहता है।

इस भाव-विशेष के व्यवस्थित एवं व्यवहारिक रूप को ही राष्ट्रधर्म कहा जा सकता है जिसका ढलान एक-एक नागरिक के अन्तर् में रहे हुए सत्, चित् और आनन्द के विकास या विकृति के आधार पर बनता या बिगड़ता है। इस कारण व्यक्ति के विकास के लिये जैन-दर्शन में जो सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र के विकास का निर्देश दिया गया है उसे ही यदि राष्ट्रीय-जीवन के लिये स्वीकार्य निर्देश बना लिया जाय तो राष्ट्र का मुक्ति-मार्ग भी निर्बाध और निष्कंटक बन सकता है।

श्री ठाणांगसूत्र में जहां दस प्रकार के धर्मों का उल्लेख है, उसमें भगवान् महावीर ने पहले ग्राम और नगर धर्मों का प्रतिपादन करके फिर राष्ट्रधर्म को परिभाषित किया है। सूत्र का पाठ इस प्रकार है—

"दस विहे धम्मे पण्णत्ते तंजहा— गाम धम्मे, नगर-

तो दूर रहा, उसका साधारण निर्वाह तक भी कैसे हो सकता है? यह लिप्सा और वासना का रूपक सुव्यवस्था का शत्रु ही सिद्ध होता है।

राष्ट्रीयचरित्र के विकास के साथ आज आवश्यकता है-ग्राम और नगरों में सुव्यवस्था स्थापित करने की। यह राष्ट्रधर्म की निष्ठा के आधार पर ही स्थापित हो सकती है। नीचे के घटक सुधर गये तो समझिये कि राष्ट्र सुधर जायगा। शासन को चलाने वाले व्यक्ति सुधर गये तो व्यवस्था सुधर जायगी। किन्तु यदि कोई समन्वय की भावना के स्थान पर पृथक्त्व की भावना लेकर चले और कहे कि राष्ट्र में सुधार नहीं हो रहा है इसलिये राज्यों और नगरों को अलग कर लो तो क्या वहां राष्ट्र रह जायगा? नगरों को ग्रामों से पृथक् कर दो तो क्या उनकी बुनियाद तक नहीं हिल जायगी? ग्राम से वहां के व्यक्तियों को अलग कर दो तो ग्राम का क्या रूप रह जायगा? सबसे ऊपर यह तथ्य चिन्तनीय है कि यदि उन व्यक्तियों को उनकी सच्चरित्रता, नैतिकता और आत्म-चेतना से पृथक् कर दो तो क्या शेष रह जायगा? क्या मुर्दा शरीरों का ढेर और कलेवरों का समूहमात्र नहीं? आत्मशक्ति जहां के नागरिकों में नहीं बचती तो न राष्ट्र बचता है और न राष्ट्रीय-चरित्र।

आप इस नक्शे को समझने का प्रयत्न करें कि राष्ट्र की आत्मा कहां बसती है? ये ऊपर मैंने जो कड़ियां बताई हैं, यह जब पूरी शृंखला के रूप में जुड़ी हुई रहती हैं तब तक तो सब ठीक रहता और चलता है मगर जब ये कड़ियां टूटने लगती हैं तो राष्ट्र और राष्ट्रीयता ही नहीं टूटती, व्यक्ति और उसकी आत्मशक्ति भी टूटती है। इन कड़ियों

के क्रम से चलें तो समझ में आता है कि राष्ट्र की आधार-शिला एक–एक नागरिक की आत्म–चेतना और आत्म-शक्ति पर टिकी हुई है । यदि पिंड में रहने वाली चेतना सजग और शुद्ध है तो वह ज्ञान और शुद्धता राष्ट्र की सुदर सीमा तक प्रसारित हो जायगी । बाहर के आडम्बरों से न व्यक्ति बनता है और न राष्ट्र । ऊपर की टीमटाम से कोई यह मान ले कि वहां सबको अपने–अपने धर्म का भी पूरा खयाल है तो यह भ्रान्त धारणा ही साबित होगी । बिना जड़ के पौधे पर कागज के फूल ही लगाये जा सकते हैं, असली फूल खिलाये नहीं जा सकते हैं । जड़ की रक्षा से ही फूल–पत्ते हरे–भरे रह सकते हैं ।

कल्पना करें कि एक माली अपने बगीचे में आम्र-वृक्षों को पनपाकर उसके फल चखना चाहता है । इधर आम की मंजरियां आने लगीं और उधर टहनियां सूखने लगीं । माली सोचता है कि टहनियां सूख जायेंगी तो वह फल चखने से वंचित रह जायगा । इसलिये वह टहनियों को सींचने की इस तरह कोशिश करता है कि सीढ़ी लगाकर बाल्टी–बाल्टी पानी टहनियों पर छिटकता है तो क्या उसकी इस तरह की सिंचाई से टहनियां हरी-भरी हो जायेंगी ? उस माली को आप किसकी उपमा देंगे ? क्या झटपट आप उसे मूर्ख नहीं कह डालेंगे ? और कहेंगे ही, क्योंकि अगर उसे आम का फल चखना है तो टहनियों को सींचने से नहीं मिलेगा, वह तो जड़ को सींचने से मिलेगा ।

इसी तरह आज यदि आप राष्ट्र के प्रांगण में भी ऐसा ही करें कि जड़ की तरफ तो ध्यान ही न दें और टहनियों को सींचते रहें तो क्या ऐसे विवेकशून्य और कहीं-

कहीं दम्भपूर्ण कृत्य से राष्ट्र सबल बन सकेगा ? इस माली का रूपक क्या आज के कुछ राजनैतिक कर्णधारों के कामों से मेल नहीं खाता ? राष्ट्रधर्म की आवाज लगाने, कर्तव्यों का उपदेश देने और नारों को गुंजाने वालों का आज जब विपरीत आचरण देखा जाता है तो यह क्यों न समझा जाय कि ऐसे लोग विवेकशून्य ही नहीं बल्कि देशद्रोही भी हैं जो येनकेन प्रकारेण आम जनता को बहलाकर अपनी स्वार्थपूर्ति करते रहते हैं। राष्ट्र को ये लोग सिर्फ अपनी जिह्वा पर रखते हैं. उसे अपने मन और मस्तिष्क में कोई स्थान नहीं देते। उन्हें कथनी से राष्ट्र प्यारा होता है मगर असल में करनी से वे अपने मतलब को ही चाहते हैं। राष्ट्र की शक्ति या इज्जत घटे, आम नागरिक मरें, जियें या नरक की-सी यातनाएं सहते रहें—ऐसे लोगों को इस सबकी कोई परवाह नहीं होती।

राष्ट्रीयचरित्र एवं आचरण की जब ऐसी भयंकर दुर्दशा हो तो राष्ट्रधर्म की महत्ता कैसे व्यापक व प्रभावशील बन सकती है ? हर छोटे-बड़े नागरिक को सोचना चाहिये कि सापेक्ष-दृष्टि से उसका उसके प्रत्येक नागरिक साथी के साथ एक प्रकार से आत्मीय संबन्ध है, क्योंकि वे सब एक ही समूह के सदस्य हैं तथा एक दूसरे के आचरण और व्यवहार से प्रभावित होते हैं। यदि वह शांति और सुख से रहना चाहता है तो दूसरे भी इसी तरह रहना चाहते हैं, इसलिये "जीओ और जीने दो" के सिद्धान्त में उसकी आस्था ही नहीं. कर्मठता भी होनी चाहिये। संपत्ति एवं पदार्थों का जहां तक सम्बन्ध है, उसमें उसकी मूर्छा-बुद्धि नहीं होकर समत्व की भावना होनी चाहिये कि उसका

सब नागरिकों में आवश्यकता, न्याय एवं समानता के आधार पर वितरण हो। वह यह सोचे कि जब राष्ट्र में रहता हुआ मैं शांति की सांस लेना चाहता हूं, आवश्यक सामग्री की आकांक्षा रखता हूं तो अन्य सभी नागरिक भी ऐसा ही चाहते हैं, इसलिये ऐसा अपने आचरण में न उतार कर जब कोई किसी के हक को छीन कर मौज मारता है और ऊपर से आवाज लगाता है कि वह तो राष्ट्रधर्म का पालन कर रहा है तब जिस प्रकार का संकट जन्म लेता है उसे ही राष्ट्रीयचरित्र का संकट कहा जाता है। इस संकट से न सिर्फ आर्थिक अथवा सामाजिक विषमता बढ़ कर राष्ट्र का पतन होता है, बल्कि व्यक्ति की आत्मिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के द्वार भी बन्द हो जाते हैं। जैसे एक मकड़ी जो जाला बनाती है उसमें खुद तो फंसती ही है मगर दूसरों को भी फंसाती है, वैसे ही ऐसे दुश्चरित्र लोग स्वयं को और समूह को भी नीचे गिराते हैं।

आप अपनी प्रबुद्ध चेतना–शक्ति से वीतराग वाणी के धरातल पर राष्ट्र-धर्म को समझने की चेष्टा करें। भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त को उद्घोषणा की थी—

सव्व भूयप्प भूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दन्तस्स, पावं कम्मं न बन्धई।
(दशवैकालिकसूत्र, अ. ४ ग. ६)

कहा है, हे मानव, तुम्हारी आत्मा के साथ पाप-कर्मों का बंध क्यों होता है ? अगर इन पाप-कर्मों से मुक्त होना है तो अन्य सभी मनुष्यों को ही नहीं, सभी प्राणियों को भी अपनी आत्मा के तुल्य समझ कर संयम के साथ चलो। सबको आत्मा के तुल्य समझने की भावना रखोगे तभी

धम्मे, रट्ठधम्मे, पाखंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुत्तधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे एव ।"

ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि के निर्देश के बाद श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का निर्देश किया गया है । ग्राम, नगर एवं राष्ट्र धर्मों को पहले रखने का अभिप्राय यही है कि जब ये धर्मनिष्ठपूर्वक पाले जायेंगे और इनका रूप व्यवस्थित होगा तभी जाकर श्रुत चारित्र आदि धर्मों का पाला जाना सुविधाजनक बन सकेगा । जब ग्रामधर्म, नगरधर्म एवं राष्ट्रधर्म की व्यवस्था सुघड़ बनती है तभी उस राष्ट्र में रहने वाले साधक अपनी सभी प्रकार की साधना को सही तौर पर आगे बढ़ा सकते हैं। जिस गांव में साधक विचरण करे—ग्राम की स्थिति यदि अराजकतापूर्ण हो तो क्या वह साधक निर्भय होकर अपनी साधना में निरत रह सकेगा ? इसी प्रकार नगर व राष्ट्र की सुव्यवस्था अथवा दुर्व्यवस्था साधना के लिये सुविधाजनक अथवा दुविधाजनक वातावरण का निर्माण करती है ।

ग्राम, नगर अथवा राष्ट्र तथा उसके नागरिकों के बीच के संबन्ध निश्चित रूप से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । नागरिक अच्छा होगा, राष्ट्र अच्छा बनेगा तथा राष्ट्र अच्छा होगा तो नागरिक की अच्छाई भली प्रकार पनप सकेगी । व्यक्ति का समूह पर और समूह का व्यक्ति पर असर पड़ता ही है । इसी पारस्परिक असर को सुचारु एवं सुनियंत्रित बनाने का प्रभावशाली साधन है धर्म, जो ग्राम, नगर एवं राष्ट्र के लिये नागरिक के पालनार्थ बताया गया है । धर्म वैसे भी कर्तव्य का ही दूसरा नाम होता है तथा ग्राम, नगर व राष्ट्र धर्मों के रूप में ग्राम, नगर एवं राष्ट्र

के प्रति नागरिकों के कर्तव्यों का ही विवेचन किया गया है, जिनका एकमात्र उद्देश्य यह है कि व्यक्ति व समूह के बीच ऐसा सुन्दर सामंजस्य बना रहे कि दोनों घटक परस्पर प्रगति के सहयोगी बन सकें।

इस विश्लेषण के सन्दर्भ में आप अपने राष्ट्र की ओर एक विहंगम दृष्टि डालिये। यह भारतभूमि दार्शनिक धाराओं, संस्कृति व सभ्यता की जन्मस्थली रही है। यहीं से जागरण सन्देश सारे विश्व में फैला। इसी धरती पर जिन उत्कृष्ट कोटि के महापुरुष जन्मे तथा जिस प्रकार के उन्नायक साहित्य का सर्जन हुआ, वैसी महत्ता अन्य राष्ट्रों के इतिहास में कम दिखाई देगी। किन्तु यही राष्ट्र लम्बे समय तक विदेशी शासन की गुलामी में डूबा रहा तब जैसे इसकी आत्मा शिथिल हो गई। यहाँ के नागरिक आत्म-विस्मृत होकर विकृतियों के घेरों में फंसते रहे और अपनी अर्जित प्रतिष्ठा को खोते रहे। इसका कुपरिणाम यह हुआ कि राजनीतिक स्वतंत्रता भी इस देश को जो मिली वह भी इस देश के कृत्रिम विभाजन एवं जर्जरता की बुनियाद पर।

भारत राष्ट्र के जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में दो भाग किये गये, तब क्या इन दोनों भागों में ऐसी अनुकूल परिस्थितियां थीं, जिन में साधक सुविधा से अपनी साधना साध सकता ? जीवन की कड़ियों तक को ठीक से बनाये रख सकता था ? आपने सुना होगा और संभव है कि कइयोंने देखा और भुगता होगा कि इस विभाजन के समय पशुता का कैसा नंगा नाच हुआ था ? लोगों के इधर-उधर आने-जाने और कष्ट भुगतने की रोमांचक कहानियां आज भी किसी श्रोता को सहज ही में रुला सकती है। इस दुर्व्य-

वस्था में समझने का विन्दु यह है कि जहां राष्ट्रधर्म की स्थिति बिगड़ती है, जहां आध्यात्मिक शक्तियों का सहज विकास बाधित होता है और जहां चरित्र एवं नैतिकता की स्थिति भ्रष्ट बन जाती है, वहां सबके लिये समान सुख से रहने लायक वातावरण भी समाप्त हो जाता है। राष्ट्र के नागरिकों को इस दशा में राष्ट्रधर्म को समझने एवं पालने की आवश्यकता होती है।

राष्ट्रधर्म का समझना कहां हो सकता है? क्या सिर्फ दिल्ली में बैठ कर, कुछ कानून बना देने मात्र से देश में परिवर्तन आ जायगा तथा राष्ट्र-धर्म का सर्वत्र पालन होने लग जायगा? बुराई को दबाने वाले और अच्छाई को पनपाने वाले कानून बनें— यह अच्छी बात है किन्तु कानून का पालन करवाना आसान नहीं होता। यह सिर्फ व्यवस्था का ही प्रश्न नहीं है, स्वयं कानून निर्माताओं एवं शासकों के अपने चरित्र एवं आचरण का प्रश्न भी सामने आता है। स्वयं कानून बनाकर उसके प्रति स्वयं कितनी और कैसी निष्ठा रखते हैं, आखिर उसी का तो प्रभाव सामान्य-जन पर पड़ेगा। प्रायः देखा जाता है कि एक कानून बनता है, फिर दूसरा बनता है—बार-बार संशोधन व परिवर्तन होते रहते हैं, जिनका कोई जन-हितकारी आधार नहीं होता बल्कि सत्तास्थितों के स्वार्थों को पूरा करने के लिये भी ऐसा किया जाता है।

जहां सत्ता को सेवा का साधन न बनाकर स्वार्थों को पूरे करने का साधन बना दिया जाय तो क्या वहां राष्ट्र-धर्म टिक सकता है? क्या वहां सभी के चारित्र में विकास संभव रहता है? क्या वहां की स्थिति धर्म एवं सदा-चारमय बनी रह सकती है? यहां देश में रहने वाले अगर

इस राष्ट्रधर्म के नाम से अलग-अलग स्थितियां लेकर चलें, वर्ग-हितों एवं क्षेत्र-हितों को प्रमुखता देकर राष्ट्रीयता की अवमानना करें धर्म के नाम पर कटुता फैलावें अथवा दलीय स्वार्थों में लिप्त बनकर जनहित को तिलांजलि देते रहें तो क्या वहां राष्ट्रधर्म टिक सकता है ? जहां नागरिक राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों को भुला दे और राष्ट्रीय सत्ता के संचालक जनसाधारण के प्रति अपने कर्तव्यों को ठुकरा दें तो वहां राष्ट्रधर्म का अभाव है— ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है ।

विदेशी शासन की गुलामी मिटे भी इस देश में चौबीस वर्ष पूरे होने को आ रहे हैं और स्वतंत्रता के इन चौबीस वर्षों में भी यदि यहां राष्ट्रधर्म की स्थापना नहीं की जा सकी है तो यह स्थिति किसी भी वर्ग के लिये शोभाजनक नहीं है । सच पूछा जाय तो राष्ट्र में यह कैसी स्वतंत्रता है ? देश में व्यक्तियों में हो या दलों में –इस अर्से में सत्ता की लिप्सा ने ऐसा तांडव दिखाया है कि सिर्फ राजनीति ही सबके सिरों पर हावी होती चली जा रही है । सत्ता भोग हो गई और व्यवसाय बना दी गई । सेवा लोप हो गई और भुला दी गई । इसका प्रभाव यह हुआ कि सभी जगह सच्चे और खरे लोगों की उपेक्षा हो रही है तथा अवसरवादियों की बन आई है । अवसरवादी सिर्फ अवसर का अपने लिये ही लाभ उठाना जानता है, उसे न पड़ौसी से कोई सरोकार, न ग्राम, नगर या देशवासी से । जब अवसरवादी सत्ता की ऊंची कुर्सियों पर बैठ जाय तो इसके सिवाय हो ही क्या सकता है कि सार्वजनिक हितों की भर-पेट अवहेलना हो । ऐसी अवस्था में राष्ट्र-धर्म का पालन

सोचोगे कि जिस अवस्था में मैं चल रहा हूं, मैं जो आकांक्षाएं रख रहा हूं उनके अन्दर मुझे तटस्थ वृत्ति लानी है और उससे साथ देखना है कि मेरी आकांक्षाएं यश, लिप्सा, सत्ता, अधिकार या पद-प्रतिष्ठा के रूप में तो नहीं हैं ? यदि स्वार्थ के रूप में लालसा रही तो मैं अपनी अन्य प्राणियों के साथ तुलना नहीं कर सकूंगा। यह सिद्धान्त केवल शिक्षा की दृष्टि से ही नहीं कहना है, अपितु प्रत्येक को इसका आचरण अपने जीवन के प्रत्येक चरण में करते रहना चाहिये। इस आत्म-भावना के साथ यदि इस तत्त्व को ग्रहण किया जाय तो व्यक्ति के मन से धूतता, दम्भ एवं कपट के खोटे विचार बाहर निकल जायेंगे और उसके स्वभाव में सरलता, ईमानदारी और समानता की भावना का सहज विकास होने लगेगा।

आत्म-नियंत्रण, संयम एवं स्वार्थत्याग की भावना के साथ जो व्यक्ति चलेगा तो वह उसी के अनुरूप अपने परिवार को बनाना व देखना चाहेगा। वैसा परिवार ग्राम को बदलेगा तो वैसा ग्राम तथा नगर राष्ट्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकेगा। यह समत्व की भावना राष्ट्रधर्म का मूल है जो सारे राष्ट्र को समानता और एकता के आत्मीय सूत्र में आबद्ध करके रखती है। मैं राष्ट्रधर्म के विकास में नगर का विशेष महत्त्व मानता हूं, क्योंकि यह ग्राम और राष्ट्र के बीच की कड़ी है। नगर में रहने वाले नागरिक का भी इस दृष्टि से विशेष कर्तव्य होता है। नगरपालिकाएं बनती हैं जिनका ध्यान सिर्फ बाहरी बनावट तक ही सीमित होता है, किन्तु नगर-धर्म का पालन हो— ऐसी प्रेरणा न इन संस्थाओं की होती है, न इनके नियुक्त या

निर्वाचित सदस्यों को और न ही उन मतदाता नागरिकों की जो इन संस्थाओं के सदस्यों को चुनते हैं । यह विकासशील स्थिति नहीं है ।

नगर, ग्राम और राष्ट्र के बीच की कड़ी होने से इसकी "देहलीज दीपक न्याय" की स्थिति कही जा सकती है । जानते हैं "देहलीज दीपक न्याय' ? जब एक दीपक देहलीज पर रखा जाता है तो वह भीतर बाहर दोनों तरफ प्रकाश डालता है । वैसे ही नगर में रहने वालों के आचरण का प्रकाश दोनों ओर गिरना चाहिये । नगर में ही अविसंख्य बुद्धिजीवियों, सम्पन्न एवं विवेकशील लोगों का निवास होता है । वे एक ओर ग्रामवासियों के साथ छल नहीं करके उनके विकास के लिये यत्नशील हों तो दूसरी ओर राष्ट्रीय सम्मान को सर्वोपरि समझ कर तदनुसार वे अपने स्वस्थ चरित्र का निर्माण करें तो क्या वास्तव में देहलीज के दीपक की तरह वे सबके लिये आलोकदान करने वाले नहीं कहलायेंगे ?

एक बार जब यह निर्माण का क्रम नीचे से चलेगा तो राष्ट्र तक पहुंचने में उसे अधिक समय लग सकता है किन्तु वह निर्माण अवश्य ही ठोस होगा । चरित्र–निर्माण के साथ ढली हुई राष्ट्रीयता की भावना से ही राष्ट्र का सच्चा निर्माण होता है । एक शिक्षाप्रद घटना है कि एक बार एक भारतीय जलयान में जापान देश में कहीं जा रहा था । रास्ते में एक बन्दरगाह आया किन्तु वहां उसके उपयुक्त कोई भोजन सामग्री उसे नहीं मिली तो क्षुद्रतावश वह सारे जापान देश की निन्दा करने लगा कि कैसा बेकार देश है जहां खाने को भी कुछ नहीं मिलता । इसे सुनकर एक

जापानी मजदूर अपने खाने के फल ले आया और उन्हें उसने भारतीय को खाने को दे दिये तथा नम्रतापूर्वक कहा कि आप ये फल खा लीजिये। मैं खुशी से भूखा रह जाऊंगा किन्तु अपने देश के सम्मान से विरुद्ध कुछ भी नहीं सुनना चाहूंगा । तो ये ऐसी घटनाएं किसी भी राष्ट्र के विकास का मापदंड होती हैं । जहां राष्ट्रधर्म का समुचित प्रचलन है, वहां के नागरिक के लिये अपना स्वार्थ बड़ा नहीं होता, वह राष्ट्र के हित सब कुछ अपना निछावर करने को तत्पर रहता है । इसके विपरीत राष्ट्रधर्म से हीन राष्ट्रवासी कपट, झूठ और प्रपंच में इतने लिप्त रहते हैं कि वे सिर्फ अपने ही स्वार्थ की पूर्ति की बात समझते हैं । स्वतंत्रता की छाया में पलने वाली भारत भूमि की जब आज भी ऐसी बुरी अवस्था दिखाई देती है तो यह किसी भी विवेकशील व्यक्ति के हृदय को पीड़ा पहुंचाये बिना नहीं रह सकती कि जो भारत भूमि विश्व गुरु के रूप में पूजित थी, उसे ही आज अपने पतन से उठने का भान तक लुप्त हो रहा है ।

यह गम्भीरतापूर्वक विचार करने की वस्तुस्थिति है। मैं ये जो बातें कह रहा हूं, शायद आपको कड़वी लग रही होंगी किन्तु मुझे जो कहना है, वही कह रहा हूं। इस विषय में चन्दनबाला राजकन्या की स्थिति का कुछ भाव आपको समझने की आवश्यकता है । चन्दनबाला के नगर पर जब आक्रान्ताओं ने आक्रमण किया तो उन्होंने उस नगर को रौंद डाला तथा चन्दनबाला व उसकी माता को पकड़कर रथ में साथ ले चले । बन्दी की अवस्था में भी माता ने रथ में बैठे–बैठे चन्दनबाला को समझाया—जिस देश में तुमने जन्म लिया है, जिस धरती पर तुम पली-पोसी हो, उसको एक

पल के लिये भी मत भूलना और जहां भी जैसे भी तुम्हें अवसर मिले उसे पुनः स्वतंत्र कराने के लिये जितना भी वलिदान करना पड़े—उससे कभी पीछे मत हटना। माता ने यह शिक्षा नहीं दी कि बेटी किसी तरह अपनी जान बचा लेना और आनन्द मनाना बल्कि माता ने बेटी को राष्ट्रीयता का स्वरूप भी समझाया कि जो देश किसी भी अन्य देश पर आक्रमण करता है वह अपने माथे पर कलंक का टीका ही लगाता है, परन्तु वह देश जो किसी भी ऐसे आक्रमण को सिर नीचा करके सह लेता है या राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को भुला देता है, वह उससे भी बढ़कर कलंक का टीका अपने माथे पर लगाता है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का समर शांति–समर कहलाता है और ऐसा कलंक का दाग शांति–समर में रुधिरवारि से धोने पर ही साफ होता है। माता ने तब चन्दनवाला को कहा कि तुम्हें भी अहिंसक युद्ध के तरीके अपना कर इस दासता के कलंक को धोना है। बाद में इसे इतिहास बताता है कि किस शौर्य के साथ चन्दनबाला ने अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिये सफल संघर्ष किया?

क्या भारतीयजन अपने विगत गौरव को भूल चुके हैं? क्या वे राजनीतिक स्वतंत्रता की भी परिष्कृति के साथ आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं को दूर करके आत्मिक समानता स्थापित करने के संघर्ष हेतु कटिबद्ध नहीं हो सकेंगे? उन्हें स्मरण रखना होगा कि भारत-भूमि देव-भूमि कहलाती थी। देव का अर्थ देवता से नहीं किन्तु देवता के समान उज्ज्वल चरित्र से था। भारतीयों का चरित्र इतना उज्ज्वल था, और आज का रूपक? कितना आसमान–पाताल

का भेद और फिर भी भारतियों में जागृति फैले तथा उन्नति की आकांक्षा उन्हें झकझोर न डाले— यही आश्चर्य का विषय है। भारत का अतीत गुणाधारित था तो आज जाति-भेद तथा छुआछूत जैसी बीमारियां इन्सान में बची-खुची इन्सानियत को भी खाए जा रही हैं। पहले के वर्ण भी गुण के अनुसार थे और कर्म के आधार पर थे। उत्तराध्ययन सूत्र में इसी दृष्टि से कहा है कि—

> **कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।**
> **वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवई कम्मुणा॥**

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने कार्यों के आधार पर होते थे, जाति या जन्म के आधार पर नहीं। यही सिद्धान्त आज भी देश-धर्म की स्थिति के साथ लागू होना चाहिये। इन्सान भी कोई अछूत होता है— यह कलकपूर्ण धारणा है। राष्ट्रधर्म को नहीं समझने वाले कोई कट्टर-पंथी छुआछूत का समर्थन कर सकते हैं किन्तु उनकी आँखें गीता के इस श्लोक से तो खुलनी चाहिये—

> **बिद्या विनय सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।**
> **सुनिचैव श्वपाके च, पंडिताः समदर्शिनः॥**

कृष्ण महाराज से पूछा गया कि पंडित की क्या परिभाषा है? तो उन्होंने बताया कि कोरा पंडित कुछ नहीं, विनय उसमें होना चाहिये और जब विनय और विवेक उसमें हो और वह सभी प्राणियों में समदर्शी बने तब वह सच्चा पंडित है। जब कुत्ते में भी समानता देखने का निर्देश है तो इन्सान को अछूत बताना खरेखर निन्दनीय है।

भारत-राष्ट्र के निवासी गीता की नीति सुनते हैं,

आगमों की वाणी का लाभ लेते हैं और सन्तों के उपदेशामृत का पान करते हैं, फिर भी उनके मन से घृणा की भावना दूर न हो—यह समुचित नहीं है । यहां भाई-भाई ईर्ष्या से जलता है, परस्पर घृणा करता है तो फिर राष्ट्रधर्म कहां टिकेगा ? राष्ट्रधर्म का विकास तो तब माना जाय जब एक भाई अपने गिरे हुए भाई को गले लगा कर उसे इतना आत्मीय बना ले कि उसके दुःख को वह अपना दुःख समझकर चले और अपने सुख को उस दुःखी भाई पर लुटा दे । कवि ने कहा है कि सुख जब बांटा जाता है तो वह हजार गुना बढ़ जाता है । सज्जन पुरुष अपने सुख से नहीं, दूसरों को सुखी बनाकर ही अत्यधिक हर्षित होते हैं। इसी प्रकार दुःख को जब आपस में बांट लिया जाय तो दुःख का भार घट जाता है । सबका सुख और सबका दुःख जब सारे राष्ट्रवासियों में बट जाय तो कल्पना कीजिये कि क्या उनका सौहार्द, सौजन्य और समभाव स्वर्ग से भी अधिक सुखकर नहीं हो जायगा ?

आज राष्ट्रधर्म के आदर्श को आगे लाने का दायित्व बुद्धिवादी वर्ग पर विशेष रूप से है, किन्तु जिस तरह का शिक्षकों और शिक्षार्थियों का वातावरण बन रहा है, वह कोई विशेष उत्साहप्रद नहीं है । स्वयं बुद्धिवादियों को सुधारने की भी समस्या है ऐसे समय में देश के ब्रह्मचारी एवं महात्मावर्ग को आगे आकर राष्ट्रधर्म की प्रेरणा फूंकनी चाहिये । इस वर्ग में जीवन्त जोश होता है और इसी जोश का प्रयोग उन्हें इस दिशा में करना चाहिये लेकिन होश खोकर नहीं । अपने स्वयं के चरित्र एवं आचरण से उन्हें राष्ट्रधर्म का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये ।

भारत एक विशाल राष्ट्र है, जिसमें विभिन्न धर्मों, आस्थाओं, वर्गों, वर्णों और विचारों के लोग रहते हैं किन्तु विविधता में भी अब तक उनके बीच एकता का जो सूत्र रहा है वह आत्मज्ञान ही रहा है। उसी आत्मज्ञान के द्वारा समानता के वातावरण को प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता है। राष्ट्र में रहने वाले सभी वर्ग चाहे हिन्दू हों या मुसलमान—अगर राष्ट्रीयता की आत्मीय भावना के एक-सूत्र में बंधे हुए रहेंगे तो कोई किसी का शत्रु नहीं बन सकेगा। यहां तो सभी धर्मों ने दिल तक दुःखाने को महापाप बताया है। इस्लाम का यह एक वचन देखिये—

"मबाश दरपये आजार वहरचि ख्वाही कुन।
कि दर शरियिते या गैर अजी गुनाह नेस्त॥

इसी आशय की एक हिन्दी कविता भी है—

दिल किसी का मत दुखा दिल चाहे सो कर
दिल यार इस बात का, दिल अल्लाह का घर
दिल अल्लाह का घर, घट घट में है अल्ला
चार जन मिल बैठिये, यही यार है सल्ला
ऐन खुदा के मिलन का यह रस्ता है नर। दिल०।

भारत राष्ट्र की इस पावन धरती पर अगर एक भी नागरिक किसी भी दूसरे का दिल तक नहीं दुखावे, सबको अपनी आत्मा के तुल्य समझे और परस्पर आत्मीयता से ओतप्रोत रहे तो कहिये किसी भी छेद से स्वार्थ अन्दर घुस सकेगा और स्वार्थ नहीं आ सकेगा तो क्योंकर झूठ, कपट और प्रपंच अपना घिनौना सिर ऊपर उठा सकेंगे तथा क्योंकर सत्ता और पूंजी का मोह मनुष्य को पिशाच बना सकेगा?